166

श्री हरमिलाप आध्यात्मिक पुष्पमाला, भाग—४

गुरु भक्ति मार्ग

श्री १०८ श्री मुनि जी महाराज हरमिलापी जी

के

प्रेरक प्रवचनों का संग्रह

सम्पादक :

श्री मा० प्रभुदत्त ग्रोवर

श्री प्रदीप 'जयपुरी'

श्री हरमहेन्द्र 'धीरज'

प्रकाशक :

हरमिलाप मिशन - हरमिलाप भवन,

हरिद्वार (उ० प्र०)

प्रकाशक :

अनन्य सेवक श्री रामप्यारा जी छोकरा
६२७/६, रोहतक ।

योजना—
संचालक :
श्री १०८ श्री मुनि जी महाराज हरमिलापी

प्रबन्ध सम्पादक :
श्री मनोहर लाल जी हरमिलापी, हरिद्वार
श्री प्रभुदयाल जी हरमिलापी, हरिद्वार

परामर्श सम्पादक :
श्री मा० प्रभुदत्त ग्रोवर, हरिद्वार

सम्पादक :
श्री 'प्रदीप' जयपुरी देहली-३४
सहायक सम्पादक :
श्री हरमहेन्द्र 'वीरज'

मूल्य : १.५०

मुद्रक :
पुरी प्रिन्टर्स, करोलबाग,
नई दिल्ली-५

॥ सत श्री हरमिलाप साहिब जी ॥

गुरु-भक्ति-मार्ग

(श्री १०८ श्री सद्गुरु, पूज्यपाद ब्रह्मश्रोत्रिय श्री मुनि जी महाराज हरमिलापी जी के पावन प्रवचनों का संग्रह)

गुरु-भक्ति अति कठिन है, ज्यों खांडे की धार ।
जो डगमगे सो गिर पड़े, चढ़े सो उतरे पार ॥
ज्ञान, ध्यान और योग, जप गुरु सेवा सम नांहि ।
भक्ति, मुक्ति और परमपद, सब गुरु सेवा मांहि ॥
स्वामी ते सेवक बड़ो, चारों युग समान ।
सेतु बाँध रघुवर बढ़े, कूद गयो हनुमान ॥

× × ×

जो तूँ चाहे कि हो भगवान् की मुझ पर नज़र पहिले ।
तो उनके प्रेमियों की खाके-पा से कर गुज़र पहिले ॥
तरीका है अजब इस प्रेम की मंज़िल पे चलने का,
कदम पीछे गुज़रते हैं, गुज़र जाता है सर पहिले ॥

× × ×

बिन गुरु भजन हराम है, गुरु बिन देते दान ।
बिन गुरु नरक में जाहिहैं, देखो वेद पुराण !!
तीर्थ मिले तो एक फल, सन्त मिले फल चार !
श्री सत्गुरु मिले अनेक फल, कहत कबीर विचार !!
ईश्वर से गुरु में अधिक, धारे भक्ति सुजान !
बिनु गुरु भक्ति-प्रवीन हूँ, लहैं न आत्म-ज्ञान !!

विषय-सूची

		पृ०
१. नम्रनिवेदन	: सम्पादकीय	क
२. गुरु-स्तुति	:	ग
३. गुरु-कृपा	: परमानंद जी 'सेवक'	ग
४. सत्यमेव जयते	:	घ
५. आशीर्वाद	: श्री १०८ श्री मुनि जी महाराज हरमिलापी	च
*६. आचार्य की आवश्यकता एवं महत्व	: ,,	१
*७. पूर्ण गुरु एवं उनका उत्तरदायित्व	: ,,	१७
*८. क्या हम गुरु आश्रय के काबिल हैं	: ,,	३०
*९. शिष्याचरण एवं उसके कर्त्तव्य	: ,,	४८
*१०. गुरु मंत्र—महावाक्य	: ,,	६२
११. गुरु-भक्ति-मार्ग (१)	: ,,	८०
१२. गुरु-भक्ति-मार्ग (२)	: ,,	९६
१३. जीवन का निर्माण और पतन		११२
*१४. अनन्य गुरु-भक्ति एवं आत्म-समर्पण	: ,,	११३
*१५. गुरुभक्ति का अन्तिम ध्येय प्रत्यक्षानुभूति	: ,,	१३०
१६. गुरु-आरती एवं अरदास	संकलित	१४०-४४

---

*इन उपदेशों के अन्त में क्रमशः एक-एक गीत अथवा भजन प्रकाशित किया जा रहा है जिन्हें विषयसूची में शामिल नहीं किया गया है और सम्पादन दृष्टिकोण एवं नीति-परामर्श के बाद प्रकाशित किया जा रहा है।

॥ सत् श्री हरमिलाप साहिब जी ॥

नम्र-निवेदन

श्री चरणों के जिज्ञासुओं के कर-कमलों में इस पावन मार्ग की सूझ बूझ बड़े सरल शब्दों में रख रहे हैं। गद्‌गद् हृदय हैं जो 'भक्ति' का रहस्य सरल शैली में रखने की असाधारण क्षमता रखते हैं। श्री मुख से निकले हुए शब्द, पद, उपदेश एवं प्रवचन-सभी ने मिल कर 'गुरु-भक्ति-मार्ग' जैसी पावन पुस्तक (ग्रन्थ) का रूप धारण कर लिया है। उनकी उत्कट भावनाओं के विषय में कुछ कहना सुनना, उसकी विशेषताओं की उपमा शब्दों द्वारा देना, सूर्य के समक्ष दीपक जलाने जैसा है। जो स्वयं सत् स्वरूप-पूर्णानंद हों, उसका भाव एवं अनुमान लगाया जा सकता है और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। वेदान्त, उपनिषद्, शास्त्र, पुराणादि की निचोड़ रूपी गंगा उनकी सरल, शैली में किस कदर बह रही है—इसके विषय में, "कहत कबीर गूँगे की सेना जिस जानी, तिस मानी।"

इतना महत्वपूर्ण, गूढ़-ज्ञान हिन्दी में पाकर हिन्दी भाषा और भी गौरवान्वित हुई है, साथ ही अन्य प्रादेशिक भाषाओं को भी सम्मान मिला है। इस प्रयास के आगे समस्त शिष्य सेवक-प्रेमी-समुदाय साभार श्री चरणों में नत-मस्तक है। 'गुरु-भक्ति मार्ग' जिन छिपे हुए आदर्शों की विवेचना करता है—उन्हीं से शास्त्र सद्-सम्मत् हैं। इस मार्ग की कठिनाइयों को पार कर अपने परम लक्ष्य तक पहुँच जाओ-ऐसी सभी जिज्ञासुओं को श्री चरणों की ओर से आज्ञा एवं प्रेरणा है। "सेवा और आत्म-समर्पण जैसी शक्तिशाली युक्तियाँ ही इस लक्ष्य के निकट पहुंचाती है ऐसा श्री चरणों का पावन हितोपदेश है।"

जिन व्यक्तिगत व प्रेस की कठिनाइयों के कारण यह पुस्तक कुछ

देर से छप सकी है, इस विलम्ब के कारण जनता-जनार्दन-स्वरूप-सतगुरु के चरणोंमें विनम्र अपना दोष स्वीकार करता हूं । क्योंकि ऐसी सम्भावना है कि समय ने बाधा बनकर स्वार्थ का रूप धारणकर लिया हो। अतएव इस दोहरी भूल के लिए, श्री चरणों के दर पर याचक बनकर, झोली फैलाकर, क्षमा की भीख माँगता हूँ । इसमें सन्देह नहीं कि पुस्तक की प्रतिलिपि करते समय, सम्पादन करते समय, मात्रा, वाक्य, शब्द भाव-अभिव्यक्ति की त्रुटियां होंगी—वह सब मेरी भूल के कारण हुई हैं । इस अपराध के लिए अभय-दान की श्री चरणों में सहृदय विनती करता हूँ । जिस सुपात्र, विवेकशील साथियों का सहयोग इस पुस्तक की मूर्त रूप-योजना में समय-समय पर प्राप्त हुआ है, उनके आगे साभार झुका हुआ हूँ । जिज्ञासु इस पावन ग्रन्थ में रह गयी त्रुटियों को सुधार कर अपनी श्रद्धा, आत्म-विश्वास का परिचय देंगे । ऐसी आशा है क्योंकि त्रुटियों को सुधार कर ही सच्चा आत्मसमर्पण हो सकता है । किसी ने पावन वाणी में अपनी भावनाएँ इस प्रकार रखी हैं —

न कुछ हंस के सीखा है, न कुछ रोके सीखा है ।
जो कुछ जिसने सीखा है, किसी का होके सीखा है ।।

—साभार,
सम्पादक

गुरु स्तुति

ध्यान मूलं गुरुमूर्ति
पूजा मूलं गुरु पदम् ।
मंत्र मूलं गुरुर्वाक्यं,
मोक्ष मूलं गुरु कृपा ॥

× × ×

ब्रह्मानन्दं परम सुखदं केवलं ज्ञान मूर्तिम् ।
द्वन्द्वातीतं गगन सदृशं तत्वमस्यादि लक्षयम् ॥
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधी साक्षी भूतम् ।
भावातीतं त्रिगुण रहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥

× × ×

गुरु-कृपा

[परम पूज्य १०८ श्री हरमिलापी सद्गुरुदेव महाराज के पावन चरण कमलों में]

तेरा मुर्शद न अगर हमको सहारा होता ।
रंजोगम दुनिया का फिर कैसे गवारा होता ॥
मंझधार पड़ी किश्ती का गर तूं न खिवैय्या होता,

सैरे दुनियां गर्ज थी और महवे दुनियां हो गये,
इसका अंजाम तो कुछ सोचा विचारा होता ।

दुनियां के फरेबों से हम कैसे निकल पाते।
पाक नजरों का तेरी जो न इशारा होता।

आज हमदर्द जमाने में नहीं है कोई,
दिल को हसरत ही रही कोई हमारा होता ।

यह तो मुर्शद का ही है करम बगर्ना 'सेवक'
ऐसी दुनियां में तो इक दिन न गुजारा होता ।

—परमानन्द 'सेवक'

सत्यमेव जयते

ईश समायो सब बिखे, जड़ चेतन स्थूल ।
आप बीज ही हो रहा, वही शाख, वही फूल ।।
सकल बनस्पत में बैसन्तर, सकल दूध में घीया ।
ऊँच नीच में जोत समाणी घट घट माधो जीया ।।

× × ×

एको देवा: सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षीचेता, केवलो निर्गुणश्च ।।
(श्वेता० ६।११)

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी ।
ब्रह्म, निरीह, बिरज, अविनासी ।।
ईश्वर, अंस जीव अविनासी ।
चेतन, अमल, सहज गुणरासी ।।

— रामायण

"सत् श्री हरमिलाप साहिब जी"

—: आशीर्वाद :—

एक ही मंजिल एक ही राह से पार करनी हो, एक ही माध्यम से यदि तत्वबोध जानने की जिज्ञासा हो तो हम यही निवेदन करेंगे कि सद्गुरु की अनन्य-भक्ति के अलावा अन्य कोई प्रभावशाली माध्यम नहीं है। क्योंकि यह इमारत सेवा-श्रद्धा जैसी नींव पर खड़ी होती है और अनन्यता में बदल जाती है। अनन्यता का रूप पाने से पहिले कितनी बार त्याग, संयम और आत्मसमर्पण करना पड़ता है। यह कहना पड़ता है, और भविष्य में ऐसे जिज्ञासु को कहना पड़ेगा कि यह शक्ति-पुँज, अखण्ड एवं समर्थ है। यह हृदय को पावन बनाने का सूत्र है। यहाँ अनेकता में एकता है—

हरमिलापी मिशन का केवल यही प्रचार है।
सबमें अपनी आत्मा है, हर से करना प्यार है॥

जनता जनार्दन के समक्ष 'गुरु-भक्ति-मार्ग' पुस्तक के रूप में रखा जा रहा है। यह पावन विषय हृदय की कोर में छिपे कितने ही तरह के अन्धेरों के लिए रोशनी है, साधक के रूप में उन प्रेमियों के लिए यह रहबर (पथ-प्रदर्शक) है।

एक पावों का मार्ग है, एक मन का मार्ग है। यदि पाँवों का मार्ग (रास्ता) भूल जाए तो पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता है। ऐसे ही मन का मार्ग भूल जाए तो रहबर की जरूरत है। जिज्ञासु साधक श्रेय पथ पर चलने वाला तत्ववेत्ता, सिद्ध पुरुष से साधक युक्ति ग्रहण कर अपने लक्ष्य परम तत्व तक सुविधा से पहुंच पाएगा, अन्यथा नहीं। निर्णय यह हुआ कि बिना गुरुदेव के कल्याण नहीं हो सकता। इसी लिए वेद

शास्त्र, स्मृति, पुराण आदि सब ग्रन्थों में गुरु-महिमा भरी पड़ी है। सभी ने प्रथम गुरुदेव का अभिवादन किया है।

गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु, गुरुर्साक्षात् महेश्वरः।
गुरुः देव परं ब्रह्म, तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥
अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥
अज्ञान तिमिरांधस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरुवे नमः।"

भावार्थ—गुरु ही ब्रह्मा है, गुरु ही विष्णु है, गुरु ही साक्षात महेश्वर है। यही नहीं, बल्कि गुरु ही पारब्रह्म परमेश्वर है। ऐसे जो सद्गुरु देव हैं, उनको मेरी नमस्कार है।

संसार के अखण्ड मण्डलाकार और चराचर में व्यापक हुए परमेश्वर को जिसने दर्शाया है, अर्थात् जिसकी दया से सर्वज्ञ परमेश्वर का ज्ञान हुआ, ऐसे सद्गुरुदेव को मेरी नमस्कार है।

अज्ञान रूपी अन्ध नेत्रों को, जिसने ज्ञान की शलाका से प्रकाश दिया (भाव जिसने मोहरूपी अन्धकार का नाश करके ज्ञान रूपी सूर्य को उदय किया है) ऐसे सद्गुरुदेव को मेरा नमस्कार है। श्री रामायण का कुछ ऐसा ही प्रमाण है।

"वन्दौ गुरुपद कंज, कृपा-सिन्धु नर-रूप हरि।
महा मोह तमपुंज, जासु वचन रवि कर निकर ॥

......मैं गुरु के चरण-कमलों की वंदना करता हूँ। कैसे हैं गुरु-महाराज ! मनुष्य रूप के अन्दर साक्षात् ईश्वर हैं। जिन्होंने दयालु कहलाकर जीवों के उद्धार के लिये नर-रूप धारण किया है, और मन रूपी आकाश के ऊपर जो मोह रूपी अन्धेरा पड़ा हुआ है—उसे दूर करने के लिए जिनके वचन सूर्य की किरणों के समान हैं। जिस

तरह सूर्य के प्रकाश से अन्धेरा भाग जाता है। इसी प्रकार श्री गुरु के वचनों के प्रकाश से मोह रूपी अन्धकार भाग जाता है।

एक सूफी साहब का फ़रमान है—

ग़र बिज़ोई जाते हकरा, सूरते मुरशद बबीं।
आशके शौ ज़ाते मुरशद, अंदरों रोशन बबीं॥

भाव—अगर तू परमेश्वर के दर्शन का अभिलाषी है, तो श्री गुरु के स्वरूप को देख, और उनकी सूरत पर आशिक हो जा। फिर उसी के अन्दर उस पारब्रह्म परमेश्वर को देख ले। अपने लक्ष्य परमतत्व को सुगमता से पाया जा सकता है।

मेरे गुरुदेव की सूरत खुदा से मिलती जुलती है।
मुहब्बत की मुहब्बत है, इबादत की इबादत है॥
तुमको खुदा कहूँ या खुदा को खुदा कहूँ।
दोनों का रूप एक है, किसको खुदा कहूँ॥
उठा जब दुई का पर्दा अजब एक माजरा देखा।
तरीकत में जो रहबर था हकीकत में खुदा देखा।

"......जिसकी जितनी श्रद्धा ईश्वर में हो, उतनी ही गुरु में होनी चाहिए।"[1] पंचम बादशाह गुरु अर्जुनदेव जी महाराज का वचन है।

गुरु गुरु गुरु कर मन मोर।
गुरु विना मैं नाहीं होर॥
गुरु की टेक रहो दिन-रात।
जाकी कोई न मेटे दात॥

---

१. यस्य देवे परा भक्ति यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

गुरु परमेश्वर को जाण ।
जो तिस भावे सो परवाण ।।
गुरु चरणी जाँका मन लागे ।
दु:ख दरद मन ताका भागे ।।
गुरु की सेवा पाये मान ।
गुरु ऊपर सदा कुरबान ।।
गुरु का दर्शन देख निहाल ।
गुरु के सेवक की पूरन घाल ।।
गुरु के सेवक को दु:ख नहीं व्यापे ।
गुरु को सेवक दह दिसि जापे ।।
गुरु की महिमा कथन न जाये ।
पार ब्रह्म गुरु रहिया समाये ।।
कहु नानक जाके पूरे भाग ।
गुरु चरणी ताका मन लाग ।

इस लिए गुरुदेव के चरणों की शरण में जाकर, श्रद्धा पूर्वक सेवा करके ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। जिसमें श्रद्धा की कमी है, सेवा भाव पूर्ण रूप में नहीं, वह जिज्ञासु अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पायेगा ।

दिव्य ज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम् ।
पूज्येत परमा भक्तया तस्य ज्ञान फलं लभेत् ।
कर्मणा मनसा वाचा गुरुं यो नैव मन्यते ।
स याति नरकान् घोरान् महा शैख संगकान् ।

दोहा—सेवक मुखों कहावई सेवा में दृढ़ नाहिं ।
कह कबीर सो सेवका लाख चौरासी माहिं ।।

"गुरु से ज्ञान जो लीजिये, शीश दीजिए दान।
बहुते भौंदू बह गये राख जीव अभिमान॥
गुरु बिन भजन हराम है, गुरु बिन देते दान।
बिन गुरु नरक में जाइहैं, देखो वेद पुराण।
गुरु की ओर निहारिये औरन स्यों क्या काम।
गुरु उपदेश विचार कर, रखिये मन को थाम॥

भावार्थ—सेवक का धर्म है, अपने गुरु से हृदय की बात न छिपाये जो सेवक अपने अवगुणों को गुरु से छिपाता है, वह गुरु को अन्तर्यामी नहीं समझता। उसकी मिसाल उस रोगी की तरह है, जो अपने रोग को वैद्य से छुपाता है, और लज्जा के मारे प्रकट नहीं करता। स्वयं विचारिये—उसका इलाज नहीं होगा।

इसलिये शिष्य का धर्म है कि दिल की खोटी, खरी सब बात गुरु के आगे खोलकर रख दे।

"गुरु से कुछ न दुराइये, गुरु से झूठ न बोल।
बुरी भली, खोटी खरी, गुरु आगे सब खोल।

हर सेवक की यह भावना होनी चाहिए कि मेरा गुरुदेव अन्तर्यामी है। जो मैं कर रहा हूँ वह देख रहा है। जो मैं कह रहा हूँ, वह सुन रहा है। जो मैं हृदय में विचार कर रहा हूँ,वह जान रहा है। तात्पर्य यह कि वह मेरे मन, वचन, काया द्वारा किये गये सभी कर्मों (सारी क्रियाओं) का साक्षी एवं चैतन्य है (जान रहा है)। ऐसी अटूट भावना से मन निर्मल होगा और पापों से मुक्त हो जायेगा। तर्क की आवश्यकता नहीं, साधारण ज्ञान की बात है कि साधारण लौकिक विद्या बिना गुरु के नहीं आ सकती तो आध्यात्म-विद्या (रूहानी तालीम), बिना गुरु के कैसे आ सकती है ? अतः मर्यादा के अनुसार भगवान् राम और कृष्ण ने भी ऐसा ही किया:—

राम कृष्ण ते को बड़ो ? तिन्हूं तो गुरु कौन ।
तीन लोक के हैं धनी, गुरु आगे अधीन ॥

एक उदाहरण से आपको अच्छा ज्ञान होगा । भगवान श्रीकृष्ण के गुरुदेव दुर्वासा ऋषि एक बार दस हजार शिष्य साथ लेकर द्वारिका पुरी में पहुँचे । द्वारिका के निकट, बाहर एक बाग में ठहर गये । बाग के संरक्षक माली लोगों ने पूछा आप कौन हो ? गुरुदेव बोले—हम भगवान् कृष्ण के गुरुदेव । साथ में हमारे दस हजार चेले । कर्मचारी भाग कर द्वारिकाधीश के पास आये और कहा कि आपके गुरुदेव शिष्य मण्डली सहित पधारे हैं । श्रवण करते ही भगवान दौड़ पड़े और अपने गुरुदेव के चरणों में साष्टाँग प्रणाम कर विनीत शब्दों में बोले—अहो भाग्य ! आपने दर्शन दिए हैं । दुर्वासा जी बोले - आप कुशल मंगल हो ? प्रभु बोले—आपके दर्शन करके विशेष सुख का अनुभव हो रहा है । आप कृपया राजभवन महलों में पधारें । गुरुदेव बोले—यहाँ एकान्त है और मेरे साथ शिष्य-मण्डली है, यहीं ठीक रहेगा ।

भगवान बोले—भोजन के लिए आज्ञा दें । दुर्वासा जी बोले—भोजन तो सभी को करना है । उत्तर पाकर श्रीकृष्ण सीधे महल में आ गए और रुक्मणी, सत्यभामा आदि पटरानियों को सहर्ष सूचना दी कि मेरे गुरुदेव महाराज पधारे हैं, साथ में दस हजार चेले हैं । आप सबका भोजन बनावें । सब पटरानियाँ एवं कर्मचारी सेवा में जुट गये । कई प्रकार के मिष्ठान्न एवं अनेक व्यंजन तैयार हो गए । भोजन सामग्री तैयार होने पर स्वयं श्रीकृष्ण सनम्र बुलाने गए कि गुरुदेव पधारो भोजन तैयार है । श्री दुर्वासा जी शिष्यों सहित चल पड़े । जब पहुँचे तो भगवान कृष्ण ने गुरुदेव का पूजन किया । चरण धोकर चरणामृत लिया । फिर भोजन परोसकर गुरुदेव के आगे रखा, शिष्यों के आगे भी भोजन आ गया, इतने में दुर्वासा जी क्रोध में आकर बोले, ये भोजन

हमारे अनुकूल नहीं है, हम नहीं खायेंगे । तो भगवान बोले, यदि आप नहीं खायेंगे तो आपके शिष्य खा लेंगे । आपके लिए और बन जाता है । गुरुदेव दृढ़ता से बोले—यदि हम नहीं खायेंगे तो हमारे शिष्य भी नहीं खायेंगे। यह सारा भोजन सागर में फेंक दो । आज्ञा पाते ही सारा भोजन सागर में फेंक दिया गया ।

फिर भोजन दूसरी बार बना वह भी गुरुदेव ने समुद्र में फिकवा दिया। उत्तेजित हो बोले—आपने बिना पूछे भोजन को बनवाया। पहले पूछना चाहिये था कि आपके अनुकूल कौन सी वस्तु है या नहीं । तीसरी बार पूछ कर भोजन बनवाया। तब गुरुदेव ने शिष्य मंडली के साथ भोजन कर रात्रि वहां बाग में विश्राम किया । राज-भवन एवं नगर में यह चर्चा फैल गई। प्रातः उठते ही श्रीकृष्ण जी गुरुदेव को प्रणाम करने गए तो दुर्वासा जी बोले—हे कृष्ण, अब हम यहाँ से प्रस्थान करेंगे । तो कृष्ण जी बोले, मेरा रथ है। आप रथ पर बैठ पधारें । गुरुदेव बोले—पदयात्रा ही ठीक है । भगवान ने कहा—आज तो रथ को पवित्र करो । अवश्य प्रार्थना मानकर उस पर ही बैठो। तब गुरुदेव बोले—जैसा रथ हम चाहते हैं उसी प्रकार का रथ लावो, तब चढ़ेंगे। तो भगवान कृष्ण ने कहा—आज्ञा करो । गुरुदेव बोले, "रथ तो वही हो, पर घोड़ों की जगह एक तरफ आप और एक तरफ रुक्मणि पटरानी—दोनों जुतो। तब हम चढ़ेंगे, अन्यथा नहीं ।" कृष्ण जी बोले—मेरा शरीर तो हाजिर है । यदि आज्ञा हो तो रुक्मणि जी से पूछ लिया जावे । गुरु बोले—ठीक है ।

भगवान कृष्ण महल में गये और रुक्मणि से कहा—"हे रुक्मणि आज एक प्रतिज्ञा करो । उसने कहा—कौन-सी ? कृष्ण बोले—बताना यह है कि तुम कहो कि वह मैं करूँगी । रुक्मणि ने कहा—मुझे प्रथम बताया जावे । सम्भव है कि वह मुझसे हो सके या नहीं । भगवान बोले—पतिव्रता नारी क्या नहीं कर सकती ? तो रुक्मणि बोली तन, मन, धन सब आपका है । प्रभु बोले—आज का कार्य तन, मन, धन से परे

का है। तो अन्त में रुक्मणि ने प्रतिज्ञा कर दी। भगवान बोले—तुम्हें ज्ञान है कि मेरे गुरु महाराज पधारे हैं। बोली—ठीक है। फिर इनको भोजन से जिस प्रकार सन्तुष्ट किया, तुम्हें ज्ञात है। रुक्मणि ने कहा—"हाँ ज्ञात है।" कृष्ण ने फिर कहा—अब वह प्रस्थान करना चाहते हैं। तो रुक्मणि बोली आपका बढ़िया रथ है, बिठा कर जहां जाना चाहें, पहुँचा आओ। तो कृष्ण ने स्पष्ट कहा कि गुरुदेव की आज्ञा है कि रथ तो वही हो, मगर घोड़ों की जगह तुम और रुक्मणि जुतो, तब चढ़ेंगे। यह सुन कर रुक्मणि असमन्जस में पड़ गयी। भगवान बोले-अब तुम प्रतिज्ञा कर चुकी हो, अब तुम्हें इनकार करने की आवश्यकता नहीं है। विवश होकर रुक्मणि साथ चल पड़ी।

जब दोनों गुरुदेव के पास पहुँचे और प्रार्थना की कि हम हाजिर हैं। गुरुदेव की आँखों से आँसू छलक पड़े (भाव—अश्रुपात हो गया अनन्य भक्ति, सुदृढ़ निष्ठा देखकर) और भगवान कृष्ण को सप्रेम हृदय से लगाया और कहा—पुत्र यह परीक्षा थी, आप परीक्षा में पूर्ण रूप से उत्तीर्ण हो चुके हैं। अब मेरा आशीर्वाद कि है सब अवतारों से अधिक पूजा आपकी होगी। आपकी गीता विश्वव्यापी बन जायेगी। यद्यपि भगवान कृष्ण को आवश्यकता नहीं थी पर फिर भी संसार में मर्यादा कायम करने के लिए 'गुरुभक्ति' का रोमांचकारी उदाहरण रखा। यह है आदर्श स्वरूप जीवन। गुरु-भक्ति मार्ग के जिज्ञासुओं के समक्ष यह विचार सागर का प्रथम गोता आशीर्वाद-स्वरूप है।

ईश्वर से गुरु में अधिक धारे भक्ति सुजान !
विनु गुरु भक्ति प्रवीन हूँ, लहे न आतम ज्ञान !!
ज्ञान, ध्यान और योग, जप, गुरु-सेवा सम नाहिं !
भक्ति, मुक्ति और परमपद, सब गुरु सेवा माहिं !!

भगवान स्वयं अर्जुन को आदेश देते हैं—"हे अर्जुन जब तू उन ब्रह्मज्ञान के जानने वाले तत्ववेत्ता महापुरुषों की शरण में प्राप्त होकर भली प्रकार दण्डवत कर (प्रणाम कर) सेवा करके निष्कपट भाव से प्रार्थना करेगा, तब वह पूर्ण महापुरुष तुम्हें उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।"* भगवान ने स्वयं गुरुदेव की सेवा की, फिर अर्जुन को भी यही उपदेश दिया।

इतना अवश्य कहेंगे—यह मार्ग उत्तम एवं कल्याणकारी है। किन्तु छुरे की धार की तरह तेज है। समय-समय पर परीक्षाएं, जांच पड़ताल होती रहती है। दुर्बल हृदय वाले पुरुषों का यहाँ काम नहीं है यहाँ तो साहसी, उद्यमी, शीलवान, जिज्ञासुओं की आवश्यकता है। 'गुरु-भक्ति-मार्ग' आपके समक्ष है। सेवा सबसे उच्च है, बशर्ते हृदय से प्रेम पूर्वक की जावे। इस मार्ग पर एक बार उत्तीर्ण निष्ठावान जिज्ञासु, सच्चा पूंजीपति है। और हो जाता है। कारण—

हमेशा ज़िन्दगी से ज़िन्दगी का राज़ मिलता है।
मज़ा जीने का तब आता है, जब हमराज़ मिलता है॥
जबी दर्दों की दुनियां दिल में बस जाती है जोरों से—
मैं सच कहता हूँ, आके आप चारासाज़ मिलता है॥

आपका अपना आप
मुनि हरमिलापी, हरिद्वार

हरमिलाप भवन
व्यास-पूर्णिमा
२१-७-६७

तद्विद्धि प्रणिपातेन परि प्रश्नेन सेवया।
उपदेक्षन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिन॥

—गीता

श्री गुरवे नमः

१. "आचार्य की आवश्यकता एवं महत्व"

प्रायः देखने में आता है कि हमें अपने जीवन में दो प्रकार की उन्नति की नितान्त आवश्यकता होती है। प्रथम उन्नति—बौद्धिक—जो बुद्धि की विचारशीलता एवं सामन्जस्य से सम्बन्धित है। हमारा जो आज रूप है—वह पिछले किये हुए कर्मों एवं सोचे हुए विचारों का समन्वय है और जो कुछ हम वर्तमान में कर रहे हैं, वही हमारा भविष्य है। "भगवान बुद्धदेव का यह उपदेश सारमय है कि 'जैसा हम सोचते हैं, वही हमारा स्वरूप होता जाता है'।" दूसरी प्रकार की उन्नति है—आध्यात्मिक प्रगति—जो आत्मा के स्वरूप से सम्बन्धित है। यह सब हमने कैसे जान लिया ? इसका यदि यही निराकरण होता है कि मात्र बौद्धिक शक्ति के विकास से, तो यह पूर्ण उत्तर नहीं, अपितु सही उत्तर की प्राथमिक तैयारी मात्र है। निरन्तर पुस्तकें पढ़कर बौद्धिक शक्ति का विकास कर सकते हैं, लेकिन जिसे आध्यात्मिक शक्ति कहते हैं—उसकी पूरी पूरी खुराक इस माध्यम से नहीं मिल सकती है। आज लोकाचार को देखते हुए यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि 'दुनिया बौद्धिक विकास की ओर तो अग्रसर हो रही है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से पतन की ओर जा रही है। आज दुनिया के वैज्ञानिकों का संसार के पूर्ण सुखी होने का दावा—बुद्धि के विकासाधार पर अथवा मन के व्यक्तित्व (Personality of mind) के कारण माना जा सकता है। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण रूप से ऐसा कहना उचित नहीं है। कारण है—बौद्धिक विकास नकारात्मक (Negative) और सकारात्मक (Positive) दोनों प्रकार का है, जो मनस-तल को भटकाने के उपादान

समक्ष रखता है। किन्तु आध्यात्मिक ज्ञान अपने आप में पूर्ण वैज्ञानिक प्रणाली से सुसज्जित है। इसमें नकारात्मक कुछ भी न है, सभी कुछ सकारात्मक है।

हमारे देश में एक राजनीतिज्ञ नेता लोकमान्य तिलक हुए। जिन्होंने एक मजबूत नारा बुलन्द किया था, "स्वतन्त्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है।" ठीक ऐसा ही नारा आध्यात्मिक आचार्यों का भी है। चाहे हम युग-युग तक संघर्षमय आवागमन के चक्कर में क्यों न पड़े रहें, किन्तु अन्त में प्रत्येक जीवात्मा को पूर्णत्व प्राप्त कर ही लेना है। "बाहरी चिन्ह धर्म के कारण नहीं है। सर्वभूतों में समता रखना ही मुक्त पुरुषों (भावः आध्यात्मिक आचार्यों) का लक्षण है सभी को कहना है, अस्ति (है), अस्ति (है)—वह मैं ही हूँ। चिदानन्द स्वरूप शिव हूँ। जिस तरह सिंह पिंजड़े से निकलता है उसी प्रकार हर जीवात्मा को जगत प्रपंच से मुक्त होना पड़ेगा।" निष्कर्ष यह है हम चाहे जितनी धार्मिक पुस्तकें पढ़ लें, किन्तु हमारा सही धार्मिक विकास नहीं हो सकता, हाँ इतना अवश्य है, कि कुछ विचारों में तबदीली आ जाय। कहने का भाव यह है कि क्षणिक भावुकता (At-random-inspiration) कभी आध्यात्मिक नहीं हो सकती है। आध्यात्मिक प्रेरणा शक्ति तो बाहर से मिलती है। यह एक ऐसी संजीवनी शक्ति है, जिसके द्वारा ही अपने मुक्त स्वरूप की पहचान हो सकती है। धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन से हम विभिन्न धर्मों पर लम्बे चौड़े भाषण दे सकते हैं, विभिन्न पुस्तकों के तत्वों को इकट्ठा करके सैंकड़ों मोटी मोटी किताबें लिख सकते हैं, किन्तु व्यावहारिक रूप में (Practical-phase) आध्यात्मिक बनने का, जब जहाँ

---

१. न लिंगं धर्मकारणं, समता सर्वभूतेषु एतन्मुक्तस्य लक्षणम्।
अस्ति, अस्ति, सोऽहम्, सोऽहम्, चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्
निर्गच्छति जगज्जालात् पिंजरादिव केसरी।

प्रश्न पैदा होता है तो सदैव हम अपने आपको असफल पाते हैं। यही क्षणिक धार्मिक प्रेरणा है। दुनियाँ हमारी पूजा करे, हमें महान कहकर पुकारे, आदि हम यही चाहते हैं, किन्तु यह वास्तविक संजीवनी शक्ति नहीं है। आशय सिर्फ इतना है, कि इससे आत्मा की पूर्ण उन्नति नहीं हो सकती है।

आत्मा की शक्ति को जगाने वाली यह संजीवनी शक्ति केवल दूसरी आत्मा से ही प्राप्त हो सकती है। इस शक्ति के मिल जाने से ही सही अर्थों में हमारा धार्मिक जीवन आरम्भ होता है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में—"जो आत्मा इस संजीवनी शक्ति को दूसरी आत्मा में डालती है, उसे गुरु या आचार्य कहते हैं और जो आत्मा इसको ग्रहण करती है, वह शिष्य या चेला (Disciple) कहलाती है।" "शक्तिदाता भी अलौकिक होना चाहिए और ग्रहण करने वाला भी सबल एवं कुशल।"[१] "गुरु शब्द में 'गु' और 'रु' दो ही अक्षर हैं। जिसमें 'गु' शब्द अज्ञानरूपी अन्धकार का वाचक है और 'रु' शब्द अज्ञान का नाश करने वाला है अर्थात अज्ञान रूपी अन्धकार के नाश करने वाले को गुरु कहते हैं।"[२] यह पवित्र वाक्य नारद गीता के हैं।

यूं तो जब से पैदा होते हैं और जीवन की अन्तिम सांसों तक गुरु की आवश्यकता होती है। कदम कदम जैसे गुरु की आवश्यकता के लिए ही है। बौद्धिक विकास के लिए कई गुरु हुआ करते हैं, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से एक ही गुरु पूर्ण गुरु होता है और उस ही को ग्रहण करना चाहिए। यह उचित है कि बुद्धि को विभिन्न विषयों में दक्षता हासिल कराने के लिए योग्य एवं विषयाधिकारी (*Master* of the subject-concerned) गुरु का होना ही इष्ट है। वरन्

---

१. आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा—इत्यादि-कठोपनिषद ।।१।२।७।।

२. गुशब्दस्त्वन्धकाराख्यो रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ।। नारद गीता ।।

बुद्धि पूर्ण रूपेण विकसित नहीं हो सकती है। रसायन शास
(Chemistry) के जिज्ञासु को भौतिकी (Physics) के अधिष्ठात
से और पदार्थ जिज्ञासु को रसायन शास्त्री से कभी भी सही ज्ञान न
प्राप्त हो सकता है। अतएव जिज्ञासु को इस बारे में उसी से शिक्ष
लेनी चाहिए, जिसे सम्बन्धित विषय पर पूर्ण अधिकार हो। इस
साबित होता है कि जब बौद्धिक विषय में अधिकारी गुरु से ज्ञा
ग्रहण करना पड़ता है तो आध्यात्मिक विषय में क्या यह नियम लाग
नहीं होता ? अवश्य ही—क्योंकि यहाँ तत्वों के विश्लेषण के लिए
प्रयोगशाला या अभ्यास की ही जरूरत नहीं, बल्कि यहां तो एक
आत्मा से दूसरी आत्मा में शक्ति के संचार का महत्वपूर्ण सवाल है।
"संसार में केवल शक्तिशाली महापुरुष ही जीवन-मीमांसा, सही
चिन्तन एवं तत्व-दर्शन की ओर प्रेरित कर सकते हैं।"[1] भूत में ऐसा
हुआ है, वर्तमान में यही हो रहा है और भविष्य में युगों युगों तक
यही सब कुछ होता रहेगा। यही हमारे पुराणों के अवतारवाद का
रहस्य है। "यह रहस्य आत्मा के आत्मा से कालातीत का प्रतिपादन
है, कोई व्यापार नहीं।"[2]

विचारवानों का कथन है कि संसार में मनुष्य को किसी का ह
कर रहना चाहिए क्योंकि जिसके सिर पर कोई नहीं है, कोई धनी
नहीं है, वह दर दर का भिखारी है। उसे हर जगह ठोकरें मिलती हैं
और वह सदैव नाना प्रकार की परेशानियों का शिकार बना रहता है
परन्तु जिसके सिर पर धनी (मालिक) का हाथ है, उसका कोई भी

1. The energetic personalities of the world represent an adven-ture in living. The philosophical peresonalities, on the oth- hand, represent an adventure in thinking.
—Quotations of prop...

2. Inspiration through soul is not a bussiness.—*Devine Love.*

बाल बांका नहीं कर सकता। सब लोग उससे भय मानते हैं। इसी प्रकार जिस जीव के ऊपर से सतगुरु का हाथ उठ गया है, वह जीव काल और माया का खाजा है। उसे काम, क्रोध आदि दुश्मन लूट खाते हैं। भाव यह है कि वह अपने मुक्त स्वभाव को नहीं पहचान सकता है। आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ण प्राप्ति के लिए गुरु द्वारा निर्देशित मार्ग ही हमें अपना ज्ञान करा सकता है। किसी भी पथिक को अपनी यात्रा में पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए दो बातों पर ही विशेष ध्यान देना चाहिए। प्रथम वह मंजिल जहाँ पर पथिक ने पहुंचना है। दूसरा वह मार्ग जिस पर चलकर मंजिल तक पहुँचना है। यथार्थ मार्ग का ज्ञान यदि यात्री को न हो तो यात्री कभी अपने लक्ष्य तक पहुँच नहीं पाता है। जीवन के सरल मार्गों पर ही भूले राही को पथ-प्रदर्शक (रहबर) की परम आवश्यकता होती है, तो मन के भूले पथिक को उसकी कितनी आवश्यकता होगी ?

निशां मंजिल का मिलता है सदा रहवर के हीले से।
हमेशा मुशकिलें आसान होती हैं वसीले से॥

निष्कर्ष यह है, जिनको सत्गुरु की शरण प्राप्त है, या जो श्री गुरु की आज्ञा का निरन्तर पालन करते हैं उन पर कोई विकार एवं दुर्विचार असर नहीं करता है। उन्हें श्री सत्गुरु की ओट है, सहारा है। पाठकों के समक्ष एक रोजमर्रा का साधारण सा उदाहरण रखते हैं—जिस प्रकार चलती चक्की में जो भी दाना आता है, पिस जाता है। परन्तु जो दाना किसी ओट में आ जाता है (भाव कीली की ओट में सटा रह जाता है) वह बच जाता है। जिसको भक्तवर कबीर साहिब ने यों लिखा है—

"चलती चक्की देखकर, दिये कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में, साबुत बचा न कोय॥
चलती चक्की देखकर, दिये कबीरा खिल।
दो पाटन में सो बचे, जो रहे किली सों मिल॥"

कहने को यह शब्द सीधे सादे हैं। किन्तु भाव कितना गूढ़ है
सार के आवागमन के चक्र में सब जीव पिसे जा रहे हैं। जो जी
ृगुरु का सहारा लेते हैं, वह जन्म मरण के चक्र से मुक्त हो जाते हैं
ोई भाग्यशाली ही दृढ़ सहारा ले सकता है।

"बहुत मुश्किल है होकर के किसी का जीना दुनियाँ में,
मरने वालों का मरना तो कोई मुश्किल नहीं।"

अक्सर लोगों को यह कहते सुना है कि हम अपनी हालत में ही
त हैं, और फिर आजकल हमें पूर्ण महापुरुष तत्ववेत्ता नहीं मिलते
हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यह उनकी भूल है, एक
म है। यदि हृदय में सच्ची भक्ति हो, लगन हो और तड़प हो तो
पुरुष मिल ही जाते हैं। केवल जिज्ञासु का दृढ़ विश्वास हो, साहस
हृदय का प्यार हो। युगों युगों यह वाणी गूंजती रहेगी, कि
ाय-समय पर आध्यात्मिक शक्ति के भण्डार के रूप में यह महापुरुष
च्चा पथ प्रदर्शक, हमेशा धरती पर अवतरित होता रहेगा और
ान का पर्दा हटाने वाला ही सच्चा गुरु है। स्वामी विवेकानन्द जी
सर कहा करते थे, यह प्राचीन लोकोक्ति "गुरु तो लाखों मिलते
पर शिष्य एक भी पाना कठिन है।" बात भी सही मालूम होती

गुरु शक्ति की प्राप्ति के लिए एक महत्वपूर्ण वस्तु शिष्य की
ोवृत्ति है। जब अधिकारी योग्य होता है, तो दिव्य प्रकाश अना-
ा आविर्भाव होता है। जरूरी यह है कि अधिकारी सदैव कर्मण्य
ा रहे। पुरुषार्थ में ही श्री वास है। जो व्यक्ति उत्साह, पौरुष और
ृस खो बैठता है, वह वास्तव में दुर्बल मनोवृत्ति का है। वह सोच
भी, चाहकर भी सत्गुरु को नहीं पा सकता है। और यह स्पष्ट
गया है कि दुर्बल मन पुरुष ही 'पूर्ण गुरु न मिलने का राग
ापते रहते हैं।

यह हमें हमेशा याद रखना चाहिये कि विश्व का कल्याण धर्म से
ंचत है और इन धर्म स्तम्भों (गुरु) के द्वारा ही विश्व की

चिरंतन शक्ति जगमगा रही है। इष्ट प्राप्ति की आकांक्षा वाले को आत्म समर्पण करना जरूरी है। गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—"हे अर्जुन! तत्ववेत्ता महापुरुषों की शरण में जाकर भली प्रकार अनन्य भक्ति भाव से सेवा करो फिर जिज्ञासु की भांति प्रश्न करो, वह महापुरुष ज्ञान का उपदेश करेंगे।"[1]

'मुर्शिदे कामिल इलाजे दिल कुनद'

जिन लोगों का भ्रमवश यह दावा है कि संसार में पूर्ण गुरु नहीं मिलते। वास्तव में उनको स्वयं गुरु की हार्दिक तलाश नहीं है। यदि शिष्य पूर्ण परिपक्व और सुयोग्य हो चुका है तो महापुरुष उसे स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि जिस प्रकार ऋणात्मक (Negative) और घनात्मक (Positive) तारों के मिलने से प्रकाश होता है। वैसे ही गुरु को भी सदैव सुयोग्य, कुशल शिष्य की आवश्यकता रहती है- यह पूर्ण आध्यात्मिक पारलौकिक सम्बन्ध है। ईश्वर की परम अनुकम्पा होने पर ही ऐसा सम्भव हो सकता है।

'जाको जा पर सत्य सनेहू। मिलहि सो ताहि न कछु संदेहू॥'

(भाव—हृदय से खोजने वाले को अवश्य ही मिल जाते हैं) किसी ने कहा है—

'मिलना नहीं मुश्किल है जो निकला तलाशे यार में।
जो गुल में हो जलवानुमां पिनहां वही है खार में॥
वह कुल में है, जर्रे में है, जाहिर में है, परदे में है।
रो रो के कर दीदार उसका आँसुओं के तार में॥
मौजूद है वह चाह में, मिलता है हर इक राह में।
वही बेकसों की आह में, वही बादलों की पुकार में॥

---

१. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः॥

हरजा वही है जहूर में, मूसा ने देखा तूर में।
वही वीर था मन्सूर में, वही उसने देखा दार में ॥

अतः इस संसार में कोई वस्तु भी असम्भव नहीं है। जिसका नाम है उसका रूप भी अवश्य है। नाम और रूप सदा से साथ-साथ चलते आते हैं। केवल पुरुषार्थ की आवश्यकता है। 'हिम्मते मरदां मददे खुदा' किन्तु जो आलस्य में खोये हैं, प्रमाद में लीन होकर वक्त व्यर्थ गवां रहे हैं, ईश्वर भी उनकी ओर से हाथ खींच लेता है।

'कायर मन कर एक अधारा।
दैव दैव आलसी पुकारा ॥'

श्री पथिक (महापुरुष) जी कहते हैं 'हे राम जी, संसार में और कोई देव नहीं है। तेरा पुरुषार्थ ही तेरा देव है। विश्वकोष में असंभव कोई वस्तु नहीं है। केवल साहस और दृढ़ विश्वास चाहिए। जो संयमी और दृढ़ विश्वासी हैं, प्रकृति श्री भी उनका साथ देती है। इच्छा शक्ति (Will power) ठीक हो तो कोई कार्य कठिन नहीं है। यह बात निःसन्देह और सच्ची है। इस पर एक कथा है :—

समुद्र के किनारे दो चिड़ियाँ (नर और मादा) घोंसला बनाकर रहतीं थी। एक बार ज्योंही समुद्र की लहर आई तो उनका घोंसला और अन्डे बहाकर समुद्र में ले गई। ये दोनों जब उड़ती फिरती बाहर से अपने घर आयी तो देखा 'न वह घर है, न वे अण्डे हैं। पता लगा कि समुद्र ने उछालकर बहा दिए हैं। तो सुनते ही आग बबूला हो गयीं और कहने लगीं 'हमारा नाम चिड़िया है तो हम उस समुद्र को सुखाकर छोड़ेंगी। समुद्र है कौन जो हमारे अण्डों को बहा कर ले जाये। इसे अहंकार होगा कि मैं बहुत बड़ा हूँ लेकिन इसे अभी तक कोई शिक्षा देने वाला नहीं मिला। इसे अधिकार क्या है कि बिना कारण किसी दूसरे के घर पर हमला करे। उन्होंने प्रण कर लिया कि जब तक इसको सुखा न देंगी, सुख का सांस लेना भी हमारे लिए पाप है।

यह कहकर दोनों पक्षी लगे समुद्र को सुखाने। उनकी क्या क्रिया-णाली थी, किनारे से रेत की चोंच भरकर समुद्र में फेंकते और मुद्र से पानी की चोंच भरकर बाहर फेंकते। परन्तु सागर तो वशाल था, असीम था। उसका खुश्क करना तीनों कालों में असंभव है। किन्तु उनके दिल में आला दर्जे की हिम्मत थी और अन्त में वशाल समुद्र को हार माननी पड़ी।

हुआ कुछ यों कि जब दोनों चिड़ियाँ इस प्रकार दृढ़ निश्चय से अपने कर्म में जुट गईं तो एक अन्य चिड़िया ने उनसे इस अकथ प्रयास का कारण पूछा। उन्होंने बताया कि समुद्र हमारे अण्डे बहाकर ले गया है, हम उसे खुश्क करते हैं। तीसरी चिड़िया ने मुस्कराकर कहा 'यह काम तुम्हारे क्या, संसार की शक्ति के बाहर है। इस ख्याल को त्याग दो और अपना जीवन व्यर्थ न गवांओ।' उन्होंने उत्तर दिया, 'हम इस प्रकार का उपदेश सुनने के लिए कतई तैयार नहीं हैं। यदि तुमसे कुछ बन सकता है तो सहयोग दो वरना पीठ दिखाओ। हमको ऐसे कायर और कमजोर खयाल वाले के साथ विवाद करके अपना समय नष्ट करना मन्जूर नहीं है।'

उनकी उच्च कोटि की हिम्मत एवं आला दर्जे की दिलेरी का उस पर भी प्रभाव पड़ा। सारा उपदेश भूल कर वह भी उनके काम में सहयोग बढ़ाने लगी। एक और एक ग्यारह होते हैं। अब तो बन की अनेक चिड़ियाँ देखा-देखी समुद्र को सुखाने लगीं। जब अच्छा खासा झुण्ड इस काम में लग गया तो इस शोहरत को सुनकर देश-विदेश की चिड़ियों के झुण्ड पहुँचने लगे। अब बात पूछने पुछाने से आगे निकल गयी थी। अब जो भी चिड़ियाँ आती, और उन्हीं की प्रकार काम में लग जाती। जब संसार की तमाम चिड़ियाँ वहाँ आन पहुँची, तो दूसरे पक्षियों का ध्यान भी इस ओर गया। उन्होंने देखा, दुनियाँ की तमाम चिड़ियाँ समुद्र को खुश्क करने में लगी हैं, अब वह भी वहाँ पहुँचने लगे और जी तोड़कर मदद करने लगे।

अब लगभग सभी पक्षी-पखेरू एकत्रित हो गये और समस्त चिड़ि
की मदद करने लगे।

बात फैलते-फैलते मुनिवर नारद जी के कानों तक भी पहुँ
और श्री मुनि जी यह कौतुहल देखने फिरते-फिराते वहीं घटनास्थ
पर आन पहुँचे। उन्होंने देखा कि सभी पक्षी सागर का पानी बाह
उछाल रहे हैं और उसमें रेत डाल रहे हैं। बड़ी मुश्किल से उन्हें इसव
कारण मालूम हुआ, कोई पक्षी वक्त बरबाद नहीं करना चाहता था
नारद जी को पता लगा कि समुद्र इनके अण्डे बहा ले गया है, औ
यह उसको सुखाना चाहते हैं। बहुतेरा समझाया किन्तु श्री नार
की कौन सुनने वाला था। सभी पक्षी सिर धड़ की बाजी लगाक
नी बाहर उछाल रहे थे।

'संत हृदय नवनीत समाना'—नारद जी को दया आयी। शीघ्
ही बैकुण्ठ में विष्णु भगवान के पास पहुँचे और सब हाल ज्यों क
त्यों कह सुनाया। श्री भगवान ने तुरन्त गरुड़ जी को बुलाया और
कहा—हे गरुड़ जी! तुम्हारी प्रजा संसार में इस कदर दुखी हो रही
है, जिसकी कोई हद नहीं और तुम यहाँ सुख की नींद सो रहे हो।
शीघ्र जाओ और प्रजा को दुख से छुटकारा दिलाओ। भगवान की
आज्ञा पाते ही गरुड़ जी वहाँ आये और पक्षियों की दयनीय अवस्था
को देखकर समुद्र पर इतना भारी कोप किया कि समुद्र भयभीत
होकर त्राहि-त्राहि करता हुआ गरुड़ जी के चरणों में आ उपस्थित
हुआ और क्षमा माँगने लगा।

गरुड़ जी ने कहा—जल्दी इन पक्षियों के अण्डे वापिस लाकर दो।
नहीं तो अभी तुझे दण्ड देता हूँ। नीच, तुझे इतना विचार नहीं है
कि ये तमाम पक्षी इस तरह से अपना जीवन समाप्त कर देंगे—और
तू फिर भी मस्त बनकर बैठा है। समुद्र ने गरुड़ जी के चरणों में
नमस्कार किया और उसी समय एक लहर के द्वारा वह अण्डे निकाल
कर किनारे पर रख दिये। गरुड़ जी सब पक्षियों को आशीर्वाद देते

हुए वापिस बैकुण्ठ धाम को चले गये ।

आप समझ गये होंगे कि दृढ़ विश्वासी साहसी (भाव—हिम्मत रखने वाला) मनुष्य या प्राणी न होने वाली बात को भी करके दिखा देते हैं। आत्म-विश्वास होना चाहिए। ऊँट छाया-जल सैकड़ों मील तक भी न मिलने पर घबड़ाता नहीं है और सवार को मंजिल तक पहुँचा देता है। इसी प्रकार मानसिक शक्ति, साहस के द्वारा जिज्ञासु अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है।

कहते हैं जब फरहाद तेशा लेकर पहाड़ को चीरने लगा, तो जब एक तेशा वह मारता था तो करोड़ तेशे उसके साथ कुदरत मारती ी। इस तरह से वह जवान मर्द पहाड़ के चीरने में सफल हो गया। 'कुदरत की तरफ से भी मदद उन्हीं को मिलती है, जो इरादे के जबूत एवं आत्म-संयमी होते हैं। क्योंकि कामयाबी और नाकामी ब आदमी के अपने इरादे और दिलेरी पर निर्भर है।" हौसलामन्द आदमी के जोश को उभारने में धरती और आकाश की तमाम शक्तियाँ मदद देने के लिए तैय्यार खड़ी रहती हैं। उभरने वाली शख्सियत को दुनियाँ की कोई ताकत दबा नहीं सकती। निकम्मे और आलसी आदमी को संसार की कोई ताकत उभार नहीं सकती।"

"योग्य हम बनें—सफलता स्वयं हमें ढूँढ़ लेगी। जिज्ञासु बनें—मुक्ति स्वयं ढूँढ़ लेगी। हम आस्थावान, सत्कर्मी एवं भक्त बनें—भगवान स्वयं हमें ढूँढ़ लेगे और हम आत्म-संयमी, शिष्य बनें—'गुरु स्वयं हमें ढूँढ़ लेंगे (भाव—पूर्ण सतगुरु हमें अवश्य मिल जायेंगे)। हमारे सीने में तड़प हो-सिज्दा स्वयं भावना बन जायेगा। हम पहिले अधिकारी बनें। इसमें शिष्य-सेवक वाले लक्षण हों, पूर्ण गुरुदेव अवश्य मिल जाते हैं।"—"उद्धरेदात्मनात्मानम्—अपने ही सहारे अपना उद्धार करना पड़ेगा।" हमें हर सम्भव—"अशुभ शक्तियों

के विरुद्ध शुभ शक्तियों का प्रयोग करना होगा[1]।" "अपने ऊप विश्वास करो—सब शक्ति तुममें है—इसे जान लो और उसे विकसित करो[2]।" "दुर्बल मनुष्य इस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता[3]।"

सच तो यह है कि हमारी आत्मा ही उस परमात्मा का अंश है। यह एक सीढ़ी है परमात्मा रूपी मंजिल की जिस की ओर हमें अपना अटूट सम्बन्ध स्थापित करना है। जब शक्ति के महान् केन्द्र-बिन्दु से हम अपना नाता तोड़ लेते हैं, तो इस संसार में कुछ असम्भव नहीं रह जाता है। किन्तु क्या हम यह भूल सकते हैं कि संसार के महान् धर्म-प्रवर्तकों, आचार्यों, दार्शनिकों, महान् आविष्कारों एवं कूटनीतिज्ञों की प्रबल आकांक्षा और कठोर मेहनत के पीछे ईश्वर की महान् ... ही थी। भाव यह है ईश्वर की शक्ति के जागरूक प्रतीक हमारे धार्मिक आचार्य ही हैं—जिनकी पल-पल आवश्यकता है। इन महान् आत्माओं का समाज-निर्माण एवं जन-जागरण, धर्म की स्थापना में हमेशा के लिए सहयोग रहा है, उनके द्वारा अमरवाणी के जरिये दिये गये उपदेशों का आलोक अभी तक प्रकाशमान है। वास्तव में सच्चा गुरु वही है जो शिष्य के अन्दर निहित आध्यात्मिक अज्ञानता को दूर करके ज्ञान ज्योति जलाता है। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में—

"अन्धकार निरोधता गुरु इत्यमिधीयते"—

(Andhakar not merely intellactual ignorance, but Spritual blindness. He, who is able to remove that kind of blindness, is called a Guru.')

---

१. Use of all the powers of good against all the powers of evil.

२. Have faith in yourself, all power is in you, be conscious and bring it out.—Vivekanand

३. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

धार्मिक आचार्य समाज के दर्पण हैं। उनके द्वारा किया हुआ त्कर्म आने वाले युग का आरम्भ होता है। वर्तमान शिक्षा में यदि कुछ दोष है तो यही कि प्रत्यक्ष रूप से शिष्य द्वारा गुरु की और गुरु द्वारा शिष्य की वास्तविक खोज नहीं हो पाती है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम जीवन में निराश होकर बैठ जायें। नहीं—तुम्हारे सभी के अन्दर वह प्रकाश ज्योति विद्यमान है—जो अभी मंद गति से प्रवाहित हो रही है, किन्तु उसे रहबर की तलाश है। रहबर के मिलते ही वह प्रकाश स्वयं ही जगमगा उठेगा। "जैसे दीपक के बिना घर में अन्धेरा रहता है, वैसे ही बिना गुरु किये मनुष्य के हृदय में अन्धेरा रहता है। इसलिए मनुष्य को जीवन में गुरु अवश्य बनाना चाहिए। क्योंकि गुरु बनाने वाले को दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है[1]।"

युगों युगों इन महान् तत्ववेत्ताओं का यह उपदेश गूंजता रहेगा। "टूटी नौका पर चढ़ने वाला जिस प्रकार नदी पार नहीं कर सकता, उसी प्रकार ज्ञान हीन गुरु को प्राप्त करके मोक्ष नहीं पा सकता[2]।" अतः पहिले परख करनी चाहिए और परख करने वाले को पूर्ण गुरु अवश्य मिल जाते हैं।

'गुरु गुरु कहे सब विश्व पुकारे।
गुरु सोई जो भरम निवारे॥
बहुत गुरु हैं इस जग माहीं।
हरहिं द्रव्य भव-दुख को नाहीं॥
तांते प्रथम परीक्षा कीजे।
पीछे शिष्य होय दीक्षा लीजे!!"

---

१. बिना दीपं यथा गेहं तथान गुरुमेव च।
अवश्यं गुरुः कर्त्तव्यः सुदृष्टिं लभते नरः॥

२. भिन्न नावंश्रितः स्तब्धो यथा पारं न गच्छति।
ज्ञानहीनं गुरुं प्राप्य कुतो मोक्षमवाप्नुयात् !!"

महापुरुष की संगति से घोर पापों का नाश होता है, अं भाग्यवश प्राणी को पूर्ण सदगुरु की प्राप्ति हो जाये तो कैसा स होगा, विचारवान स्वयं अनुभव कर सकते हैं। सवाल तो हमारे अप आचरण का है। यदि हमारे अन्दर ही जिज्ञासा नहीं है, तो निर्धारि लक्ष्य की पूर्ति असम्भव ही नहीं, दुर्गम ही माननी चाहिए। "ईश्व की अनुकम्पा से हमें गुरु प्राप्त होते हैं। महात्मा की संगति पान कठिन है और उससे सदा आत्मा का उद्धार होता है[1]।"

'कबीर तीन लोक नवखण्ड में, गुरु ते बड़ा न कोय।
कर्त्ता कर ना कर सके, गुरु करे सो होय!!'
'कबीर वह नर अन्ध है, जो गुरु को मानै और।
हरि रूठे 'गुरु' ठौर हैं, गुरु रूठे नहीं ठौर!!'

गुरु की आवश्यकता कितनी है, उसका जीवन में कितना महत्व है—यह अवर्णनीय है, केवल अनुभव गम्य है। किसी प्रभु-प्रेमी ने कहा है-–

'हर आन में, हर बान में, हर ढंग में पहचान।
आशिक है तो दिलवर को, हर एक रंग में पहचान॥'

निणय हो गया है। अपनी-अपनी लगन, परख और सदेच्छा पर मयस्सर है। स्वामी विवेकानन्द ने स्पष्ट शब्दों में उपदेश दिया है "सच्चा गुरु वह है जो समय-समय पर आध्यात्मिक शक्ति के भंडार के रूप में अवतीर्ण होता है, और गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा उस शक्ति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी के लोगों में संचारित करता है।" यह सत्य परमानन्द है, शाश्वत है, युगों युगों से वातावरण में गूँजता रहा है, जगती का कल्याण-माग रहा है—'गुरु ही परब्रह्म है, गुरु ही परा-गति है, गुरु ही विद्या को उत्पन्न कराता है, इसलिए उसका जन्म

१. महत्संगस्तु दुर्लभोऽमोघश्च। लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव॥
—नारद-भक्ति-सूत्र

श्रेष्ठ है। उससे कभी द्रोह नहीं करें[२]।" इस श्रुति में गुरु को साक्षात् परब्रह्म विधान किया है, अतः श्री गुरु की उपासना स्वतन्त्र उपाय है, यह सिद्ध है। और जीवन-कल्याण के लिए जीवन में इस आवश्यकता की पूर्ति अवश्य करनी चाहिए, विद्वान को ही गुरु रूप में आश्रय करना चाहिए अन्य को नहीं।

श्री मुनि जी को शत शत प्रणाम

श्री मुनि जी को शत-शत प्रणाम्।
हैं आप महात्यागी, प्रेमी, भक्तों के करुणाधाम राम।
श्री मुनि जी को शत-शत प्रणाम्।
करते अधर्म का नाश आप, मेटते मनुज के घोर पाप।
देकर सबको सुखमय संदेश, खींचते धर्म की रेख आप॥
हे त्याग-मूर्ति, हे सुहृदय-धाम।
श्री मुनि जी को शत-शत प्रणाम्॥
श्री रामचन्द्र की पद-रज से तर गयी अहिल्या एक नारी।
पर श्री मुनि जी की पद-रज ने तारे हैं अगणित नर-नारी॥
हैं आप पतित-पावन-ललाम्।
श्री मुनि जी को शत् शत् प्रणाम्॥
पड़ गयी दया की दृष्टि जहाँ, हो गई सुखों की वृष्टि वहाँ।
नर-रूप आप नारायण हैं, कर रहे प्रेम की वृष्टि यहाँ।"
हे कृपा सिन्धु, हे दयाधाम्।
श्री मुनि जी को शत् शत् प्रणाम्॥
आशीष आपका पाने को आते हैं अगणित व्यक्ति नित्य।
यह सुयश आपका पावन है, होते रहते चहुँ दिक् सुकृत्य॥

---

२. गुरुरेवपरं ब्रह्म गुरुरेव परागतिः। स च विद्यां जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म॥ तस्मै न द्रुह्येत कदाचन॥

हे जन-जीवन नयनाभिराम।
श्री मुनि जी को शत् शत् प्रणाम्॥
दे रहे पावन धर्मोपदेश, जगाते जन-जीवन में विवे
'हर' में भासमान 'हरि' का प्रकाश, प्राणी अनेक-प्राणेश एक
हे प्रभा-पुंज हे सुखद-श्याम।
श्री मुनि जी को शत-शत् प्रणाम्॥
अलौकिक श्री मुनि विद्यालय यह—विरासत श्री मुनि जी का प्रसा
ाकर बालक शिक्षा-ज्ञान, प्रणेता होंगे छोड़ प्रमाद्
हे महामहिम्, हे पुण्यधाम।
श्री मुनि जी को शत् शत् प्रणाम्॥
उठाकर हिमगिरि-सा उन्नत-भाल हुआ विद्यालय का उच्च-स्त
आपकी अनुकम्पा महान् विनिर्मित निशदिन अति सुखकर
हे मुक्त-रूप, हे गुण-निधान।
श्री मुनि जी को शत् शत् प्रणाम्॥

●

२. पूर्ण गुरु और उसका उत्तरदायित्व

हम जानते हैं कि आध्यात्मिक क्षेत्र में कदम रखते-रखते काफी
मय निकल जाता है, एक जन्म तो क्या कई जन्मों तक यह संघर्ष
रन्तर चलता आ रहा है और साहसी, जिज्ञासु अपनी मंजिल तय
र गये हैं। किन्तु ईश्वर के साथ एकता स्थापित करने में सभी
ाहसी जिज्ञासुओं को बाहरी शक्ति (भावः पूर्ण सत्गुरु) की बहुत
रूरत पड़ती है। रामायण में आता है :—

"गुरु बिन भव-निधि तरे न कोई।
जे विरंच,, शंकर, सम होई॥"

यदि किसी व्यक्ति का बौद्धिक-विकास अच्छी किस्म का है—यह
क गुण है, अच्छी बात है, किन्तु उसमें आध्यात्मिक विकास भी
उतना विकसित होगा—असम्भव है। कई बार ऐसा अनुभव किया
ाया है कि निरन्तर धार्मिक ग्रन्थ, पुस्तकें पढ़ने से मनुष्य को, अहम्
सा हो जाता है और वह अपने आपको बिना गुरु धारण किये अत्यन्त
पूर्ण समझने लगता है। यह एक भुलावा है। क्या महापुरुषों की
युगों-युगों तक गूंजने वाली यह वाणी महत्त्वशाली नहीं है? अवश्य
ही सत्य स्वयं सिद्ध होता है।

दोहा—गुरु बिन माला फेरता, गुरु बिन करता दान।
कह कबीर निष्फल सभी, देखो वेद पुरान॥
निगुरा मोको ना मिले, पापी मिलें हज़ार।
इक निगुरे के शीश पे, लख पापी का भार॥"

कहने का भाव यह है कि हमारा जीवन भी तभी सच्चा मानव
जीवन होगा, जब हम पृथ्वी के सुन्दर रूप को और भी सुन्दर

बनायेंगे, प्रेम ही परमात्मा है, ऐसी ज्योति जलायेंगे, मनुष्यता
ईश्वरत्व के पास ले जायेंगे। 'मनुष्य के भीतर एक ऐसा रूप व
हुआ है जो बिल्कुल निष्कलंक और सुन्दर है, शाश्वत और अमर
जो न तो कभी पैदा हुआ है और न कभी मरेगा। न ही
कलंकित किया जा सकता है, और न ही वह कोई पाप कर सक
है। वह इन सबसे परे है, जीवन पुंज है। यही वह ईश्वर, अंश
जो हमारे जीवन का सच्चा रूप है।" यह गुह्य ज्ञान, यह अन्तर्ज्यो
बिना बाहरी शक्ति को प्राप्त किये जानना असम्भव है। लोगों व
'ह दावा हम मानने को तैयार नहीं हैं, कि पूर्ण सत्गुरु आजक
ह्ँ मिलते हैं। यह कहना हमारी दुर्बलता है।

सूर्य तो स्वयं प्रकाश पुञ्ज है। उसको दीपक जलाकर देखने
कोई बुद्धिमानी नहीं है। पहले जिज्ञासु अपने आप से यह सवा
करें—क्या वह वास्तव में शिष्य होने के काबिल है? क्या उस
जिज्ञासा का स्रोत बह रहा है? क्या वह त्याग के लिए तैयार है?
मैं मानता हूँ, "जितना ही पूर्ण गुरु को पाना मुश्किल है, उतन
ही योग्य शिष्य का मिलना भी कठिन है। परन्तु यह अवश्य है
कि पूर्ण महापुरुषों की कमी नहीं है, किन्तु कमी तो कुशल
शिष्यों की है।' स्वयं शंकर पार्वती से कहते हैं—"ऐसे गुरु
संसार में बहुत हैं जो शिष्य-सेवकों के धन को हरते हैं, परन्तु
हे देवी! ऐसे गुरु महान दुर्लभ हैं जो शिष्यों के मानसिक दुःखों का
हरण करके हृदय एवं मस्तिष्क को शीतल कर देते हैं।"' जहाँ गुरु
कामिल हो, वहाँ जरूरी है कि शिष्य भी आमिल हो। गुरु शिष्य का
दिल मिल जावें तो ज्ञान में विलम्ब नहीं होता है।"

गुरु तीन प्रकार के होते हैं —

१. देवता गुरु

२. मनुष्य गुरु, और

३. राक्षस गुरु।

"जो दैवी सम्पदा के गुणों से संयुक्त हैं, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मश्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, आत्मज्ञान का उपदेशक, शान्तचित्त, मधुरभाषी, सच्चरित्र, तथा विरक्तवाला है—ऐसे शुभ लक्षणों वाला देवता गुरु है। जिसके विषय में गुरुवाणी में आता है।

"सत्त पुरुष जिन जान्या, सतगुर तिसका नाऊँ।
तिसके संग सिख उधरे, नानक हरि गुण गाऊँ॥
जिस मिलिये मन होई आनन्द सो सतगुरु कहिये।
मन की दुविधा विनस जाये, परम पद लहिये॥"

—उत्तम अधिकारी को ऐसे सतगुरु देव से ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

—"व्यावहारिक विद्या के सिखाने वाला तथा शुभ कर्मों में लगाने वाला कर्मकाण्डी मनुष्य गुरु है।"

—"अनेक प्रकार के पाखण्ड रचकर, शिष्य-सेवकों को तंग करके या किसी ढंग से भेंट (भाव : येन केन प्रकारेण सेवकों से धन का उपार्जन करने वाला) राक्षस गुरु होता है।" रामायण में आता है—

शिष्य धन हरहीं, शोक न हरहीं।
सो गुरु घोर नरक मँह परहीं॥

—जो गुरु शिष्य के अज्ञान को तथा शोक-मोह को दूर नहीं कर सकता है और प्रतिवर्ष आकर सेवकों से धन लेकर चला जाता है। उससे शिष्य का कल्याण नहीं हो सकता है। वह गुरु अपना भी कल्याण नहीं कर सकता।

'गुरु शिष्य अन्ध वधिर कहँ लेखा।
एक नहिं सुना, एक नहिं देखा।'

"राह भुलियाँ नूँ सतगुर बाझों रस्ता हथ न आवे।
सतगुरु चहिये दाना बिना वहदत्त राह दिखावे।।"

अतः जहाँ शिष्य में कुछ अद्वितीय योग्यताओं का होना जरूरी है, ठीक उसी प्रकार कुछ विशेष बातें गुरु में होनी जरूरी हैं। उन्हीं को पाठकों के समक्ष रखना चाहते हैं, "वह गुरु वास्तव में गुरु नहीं है, जो सत्य को छिपाकर शिष्यों को अन्धेरे में रखता है।" पूर्ण सतगुरु के मार्ग में तो और भी कठिनाइयाँ हैं। स्वामी विवेकानन्द ने एक बार अपने भाषण में कहा था—'शक्ति-दाता' गुरु के लिए तो ...र भी अधिक कठिनाइयाँ होती हैं। ऐसे अनेक होते हैं, जो स्वयं अज्ञान में डूबे हुए रहते हैं, पर अन्तःकरण में अहंकार भरे रहने के कारण अपने को सर्वज्ञ समझते हैं। इतना ही नहीं, वे दूसरों का भार अपने कन्धे पर उठाना चाहते हैं और इस प्रकार 'अन्धा अन्धे को राह दिखावे' वाली कहावत चरितार्थ करते हुए अपने साथ उन्हें भी गड्ढे में ले गिरते हैं। संसार में ऐसों की ही भरमार है। हर कोई गुरु होना चाहता है। प्रत्येक भिखारी लाख मुद्रा का दान करना चाहता है—जैसे ये भिखारी हँसी के पात्र हैं वैसे ही ये गुरु भी।

तब पूर्ण गुरु की तलाश कैसे हो? तुम्हें सूर्य को मोमबत्ती जलाकर नहीं देखना पड़ेगा। सूर्य तो जब उदय होता है तो स्वयं ही पता चल जाता है। ठीक उसी प्रकार जब हमें सहायता देने के लिए किसी पूर्ण गुरु का आगमन होता है तो आत्मा को स्वभाव से ही ऐसा लगता है कि उसे कुछ मिल गया हो, कुछ छिपा सा था जिसका अनुभव हो गया हो। ज्ञान का श्री गणेश स्वयं ही होने लगता है। पूर्ण गुरु के उत्तरदायित्व के लिए जरूरी है, शिष्य गुरु धारण करने से पहिले स्वयं को तैयार करें। अपने हृदय में लगन, पवित्रता, ज्ञानपिपासा और उद्योगशीलता, विश्वास, सेवा की लगन पैदा करें। प्रकृति का यह एक रहस्य पूण नियम है खेत पूर्ण तरह जुत जावे, खाद आदि मिल जावे, कुछ नमी इकट्ठी हो जावे,

तभी उसमें बीज पड़ना उचित होगा और अंकुर अच्छी तरह फूटेगा। किसी उर्दू शायर ने कहा है—

"तीर खाने की हवस है तो जिगर पैदा कर।
सरफरोशी की तमन्ना है तो सर पैदा कर॥
कौन-सी जा है जहां जल्वा-ऐ-माशूक नहीं-
शौके दीदार अगर है तो नज़र पैदा कर॥"

निर्णय यह हुआ कि 'शिष्य बनना' भी सरफरोशी की ओर कदम रखना है। और "सर पैदा कर" सोचकर ही शौके दीदार होगा। तभी पूर्ण गुरुदेव दृष्टि को 'आत्म-दृष्टि बख्शेंगे। फिर भी जिज्ञासु को गुरु की परख के लिए उन तथ्यों की विवेचना करते हैं, जो बहुत से श्रद्धालुओं के भुलावे में रखी हुई है। कुछ ऐसे श्रद्धालु भी होते हैं, जो प्रेम करना चाहते हैं, किन्तु उनके मन में संशयात्मक विचार पूर्ण गुरु के विषय में उथल-पुथल किये रहते हैं और वह भली-भांति निर्णय नहीं कर पाते हैं।

गुरु में पहिले यह देखना चाहिए कि 'वे शास्त्रों के मर्म को जानते हों, आत्म-ज्ञान वेत्ता हों, सही तत्व को समझते हों'[1] सारा संसार बाइबिल, वेद, कुरान आदि धर्मशास्त्रों को कंठस्थ किया करता है। किन्तु यह सब तो व्याकरण, शब्द समूहों का जाल मात्र है। धर्म की सूची और नीरस अस्थियाँ हैं। क्योंकि जो महा-पुरुष शब्द-जाल की उलझनों में पड़े रहते हैं, और अपने मन की शक्ति को शब्दों के तोड़-मरोड़ में, अर्थ का अनर्थ करने में दौड़ाया करते हैं वे भाव को खो बैठते हैं। यह शब्द-जाल तो उस गहरे जंगल की तरह है, जहाँ मनुष्य का मन रास्ता भूल जाता है। विवेक चूड़ामणि में स्पष्ट कर दिया गया है—"शब्द कैसे बना है, उसकी विभिन्न रीतियाँ, सुन्दर भाषा बोलने की भिन्न-भिन्न शैलियाँ,

बड़ी-बड़ी पुस्तकों की रचना नहीं करनी है। 'शिष्य और गुरु' का आत्मा का सम्बन्ध है, यह युगों-युगों से चला आ रहा-मिलन है। यह वह नग्मा है जो हर साज पर नहीं गाया जा सकता है, किसी ने कहा है—

"चमन तुमसे इबारत है, बहारें तुमसे जिन्दा हैं।
तुम्हारे सामने फूलों से मुरझाया नहीं जाता ।।
मुहब्बत के लिए कुछ खास दिल मखसूस होते हैं।
ये वो नग्मा है जो हर साज़ पे गाया नहीं जाता ।।"

गुरु का वेदोक्त वाक्जाल से परे होना अत्यन्त जरूरी है। ससे शिष्य के विचारों में स्वतन्त्र एवं शुद्ध चिन्तन के भाव उत्पन्न ाते हैं, ताकि वह भी गुरु द्वारा बताये गये वास्तविक मर्म एवं त्व को आसानी से अपने जीवन में ढाल सके। वाक्जाल का चार मन को मननशील एवं तत्व ज्ञान से वंचित कर देता है। ास्तव में तत्व-गान ही सत्य ज्ञान होता है। उसको ाक्जाल की कोई जरूरत नहीं है। आत्मा का आत्मा के प्रति ़्झान अथवा आकर्षण एक विशेष भाव हेतु हुआ करता है, उसे ंस्कार कहते हैं। ज्ञान उत्पन्न करने वाला जो परमानन्द तत्व है, उसे जिसने जान लिया है, वही आनंद का साक्षात्कार करा सकता है। ज्ञानरहित नाम मात्र का गुरु ऐसा नहीं कर सकता। अतः सर्वथा सर्वथा प्रयत्न करके शिष्य ऐसा आचरण करे, जो गुरु के गौरव के अनुरूप हो। "नौकाएँ एक दूसरी को पार लगा सकती हैं, किन्तु क्या कोई शिला दूसरी शिला को तार सकती है? नाम मात्र के गुरु से नाम मात्र की मुक्ति प्राप्त हो सकती है। जो मर्मज्ञ हैं, जिन्हें तत्व का ज्ञान है, वे ही स्वयं मुक्त होकर दूसरों को भी मुक्त करते हैं। तत्वहीन को कैसे वोध होगा और वोध के बिना

कैसे अनुभव होगा।"[1]

वेदों में बार-बार यह कहा गया है। यदि गुरु गुणवान, विद्वा परमानंद प्रकाशक, तत्ववेत्ता, सद्भावना-सम्पन्न, और शिवाचा है, तो वही मुक्ति देने वाला है, दूसरा नहीं। ज्ञान उत्पन्न कर वाला जो परमानंद तत्व है; उसे जिसने जान लिया है, व आनंद का साक्षात्कार करा सकता है। ज्ञानरहित नाम मात्र व गुरु ऐसा नहीं कर सकता है। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि जो गु होने का तो दावा करता है, अपना दबदबा, मिथ्या दम्भ के अव लम्बन (सहारे) से दिखाने का प्रयास करता है, किन्तु आत्मानुभ े शून्य है-वह 'पशु' कहलाता है। पशु की प्रेरणा से कोई पशुत ो नहीं लाँघ सकता है। अतः 'तत्वज्ञ' पुरुष 'मुक्त' एवं 'मोचक सकता है—अन्य नहीं।

जिस मनुष्य की अनुभव-पर्यन्त बुद्धि तत्व के अनुसंधान मे भाव खोज में) प्रवृत्त होती है, उसके दर्शन, स्पर्श आदि से परमा ंद तिरोहित होता है। निष्कर्ष यह है कि जिसके सम्पर्क से ही उत्कर्ष बोध स्वरूप परमानंद की प्राप्ति सम्भव हो, बुद्धिमान पुरुष उसी को अपना गुरु चुने, दूसरे को नहीं। जिसके पास एक वर्ष तक रहने पर भी शिष्य को थोड़े से भी आनंद और तत्व बोध, ज्ञान की प्राप्ति न हो, वह शिष्य उसे छोड़कर दूसरे का आश्रय ले। और सरल शब्दों में स्पष्ट किये देते हैं—"पूर्ण गुरु या पूर्ण महा-पुरुष वही है-जिसके दर्शन करने से आपके दिल की कली खिल

जावे-और आप अपनी सुध भूल जायें।" इसलिए गुरु की खोज करो, परमेश्वर के मिलने में विलम्ब नहीं, पूर्ण गुरु का मिलना कठिन है। प्रभु का मिलना तो सुगम है, क्योंकि प्रभु के नुमाइंदे (आचार्य) ही उस राह की ओर ले जाने वाले होते हैं।

दूसरी आवश्यकता यह है कि गुरु निष्पाप हो, सुशील, सच्चरित्र हो। क्योंकि पवित्रता ही आध्यात्मिक सत्य है। 'स्वामी विवेकानन्द' अक्सर दोहराया करते थे—"पवित्र हृदय वाले धन्य हैं, क्योंकि वे ईश्वर का दर्शन करेंगे।" इस एक वाक्य में सब धर्मों का निचोड़ है। अपवित्र, स्वार्थ-लिप्त व्यक्ति में, आध्यात्मिक ज्योति कैसे उत्पन्न हो सकती है। पवित्र गुरु हमेशा वेदों के मर्म को जानने वाला, निश्छल, प्रसन्नचित्त होता है। पवित्र आत्मा के उपदेश चाहे सरल भाषा में क्यों न हों, उनका असर स्थायी होता है। क्योंकि गुरु तो शिष्य में अपनी शक्ति का संचार करने वाला होता है।' एक आत्मा में आत्मा के तत्व का प्रभाव उत्पन्न करना होता है। इसीलिए तो बार-बार कहते हैं, "ग्रहण करने वाला (भाव: शिष्य) भी सुपात्र एवं सुयोग्य होना चाहिए।" उदाहरण के तौर पर यदि गरमी पहुँचाने वाला पदार्थ स्वयं गरम हो, तभी वह गर्मी की शक्ति दूसरे पदार्थ में पहुँचा सकेगा-अन्यथा नहीं।

'गुरु कामिल, शिष्य आमिल, खुदा शामिल"

आचार्य या पूर्ण महापुरुष (गुरु) होने की बजाय जीवन्मुक्त होना सरल है। क्योंकि जीवन्मुक्त संसार को सपने के समान मानता है और उससे कोई वास्ता नहीं रखता है। पर पूर्ण गुरु को यह ज्ञान होने पर भी कि यह जगत् सपने के समान है, उसमें रहना और कार्य करना पड़ता है। हर एक को गुरु होना सम्भव नहीं है। पूर्ण महापुरुष तो वह है जिसके द्वारा दैवी शक्ति कार्य करती है और संसार में ज्ञान की खोज जगाती है। गुरु का हर कार्य साधारण लगते हुए भी असाधारण होता है। इसे अनुभव द्वारा पूर्ण

महापुरुष के चरणों में आत्मसमर्पण करने से ही जाना जा सक
है।"

गुरु का उत्तरदायित्व बड़ा कठिन है। शिष्य यदि सही आचर
नहीं रखता तो उसका बहुत कुछ अंश गुरु-शक्ति पर भी अस
डालता है। "आईना देखने का अर्थ हैं हम स्वयं आइना बनें। ज
जैसा हो उसे उसका दर्शन हमें देखते ही कराने लायक ह
हो जायें। आदर्श आइने को ही कहते हैं। अर्थात बिना बोले ही
आईना देखकर व्यक्ति अपने को जाँच लेता है। हम आइना-स्वरू
हो जाएँ, यही इसका अर्थ है। आइना लेता कुछ नहीं, सब कुछ
लौटा देता है। गुरु भी लेता कुछ नहीं, शिष्य को उसका स्वरूप
त हो जाता है।" किसी ने कहा है—

दोहा—गुरु धोबी, शिष्य कपड़ा, साबुन सिर्जनहार।
सुरत शिला पर धोइये, तो रंग चढ़ै अपार॥
ईश्वर से गुरु में अधिक, धारे भक्ति सुजान।
बिन गुर भक्ति-प्रवीण हूँ, लहै न आत्म-ज्ञान॥

आध्यात्मिक सफलता बिना पूर्ण गुरु मिले, असम्भव है। बुद्धि-
प्रवीण हुए तो भी क्या हुआ। किन्तु पूर्ण गुरु मिलने पर ही सही
मंजिल की दिशा दिखाई देने लगती है।

"जो बात दवा से बन नस के,
वह बात दुआ से होती है।
जब मुर्शिद कामिल मिलता है।
तब बात खुदा से होती है!!"

तीसरी बात है उद्देश्य। शिष्य को यह भी देखना चाहिए कि
गुरु अपना नाम कमाने, कीर्ति पाने अथवा अन्य किसी उद्देश्य से
तो उपदेश नहीं देता है। यदि गुरु केवल शिष्य के प्रति शुद्ध-प्रेम
के लिए उपदेश देते हैं तो समझिये, वह पूर्ण महापुरुष हैं। कारण,
केवल प्रेम के द्वारा ही गुरु से शिष्य में आत्मिक-शक्तियों का संचार

होता है। ऐसा गुरु ही देवता गुरु कहलाता है। धन लालसा, यश-कामना से यह शक्तियाँ कभी असर पदा नहीं कर सकती हैं प्रेम के लिए जनता-जनादन से प्रेम' करने वाला गुरु ही अपना पूर्ण उत्तर-दायित्व निभा सकता है। यह 'एक भावसमता' सारा संसार ही ब्रह्म है—आदि भावना में प्रेममयी शक्तियों का संचार करता है। श्री योगिराज कृष्ण ने गीता में अर्जुन को सम्वोधित करते हुए कहा है। "हे अर्जुन ! जो योगी अपनी सादृश्यता से सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी सब में सम देखता है, वह योगी (महापुरुष) परम श्रेष्ठ माना गया है।"[१] वह पूर्ण महापुरुष केवल प्रेम की ही दृष्टि से सब ओर प्रेम-रूपी परमेश्वर को देखता है, उसका हृदय प्रेम से सराबोर रहता है। उसके हृदय में किसी के भी साथ घृणा और द्वेष का लेश भी नहीं रहता।" अपना तो हमेशा से मिशन ही यह है—

"हरमिलापी बनके दुनियाँ में सदा गुज़रान कर।
दिल किसी का मत दुखा तूँ-'हर' में हरि पहिचान कर।"
'हर' में 'हरि' निहार कर, 'हर' से करो मिलाप।
राग, द्वेष फिर क्यों रहे, जब सब हैं अपना आप !!"

अतः हमारे अन्दर योग्यता होनी चाहिए। हमारा कुछ लक्ष्य होना चाहिए। हमारे अन्दर आत्म-विश्वास, पवित्रता, और परख की योग्यता होनी चाहिए। हमें मानसिक-विकारों को दूर करना होगा। अपनी जिज्ञासा ज़ाहिर करनी होगी। पूर्ण महापुरुष भी मिल जाते हैं और प्रभु भी सुगम हो जाते हैं। जहाँ आचार्य का उत्तर-दायित्व कड़ा है, वैसे ही जिज्ञासु शिष्य का शिष्य धर्म भी कड़ा है। यह कोई ऊपरी भुगतान नहीं है। यह प्रेम का प्रेम के लिए

मिलन है, ये आत्मा का आत्मा से सम्बन्ध है। हमारे अन्दर हौस
विनम्रता, कुछ सीखने की प्यास होनी चाहिए। हमारे विषय
यह बात सत्य है कि हम अपने मन को अपनी शक्तियों व योग्यता
का जैसा विश्वास दिलाते हैं, वैसी ही सफलता हमें मिलती है।

विश्वास ही हमारा सम्बन्ध गुरु-शक्ति-स्रोत से जोड़ देता है
जसे हमारे लिए सफलता के द्वार खुल जाते हैं। विश्वास सोच
हीं, न ही अनुमान लगाता है, विश्वास तो बस जानता है। आत
नवेदन का दूसरा पहलू ही विश्वास है। विश्वास बिना कोई का
सफलता सम्भव नहीं। विश्वास ही साधारण मनुष्य को कर्म
...शाली बना सकता है, विश्वास ही गुरु को 'ईश्वर उपासना
... में ला सकता है। जहाँ गुरु और शिष्य में ऐसा सम्बन्ध होत
...सा विश्वास होता है, वहीं महान आध्यात्मिक आत्माओं क
... होती है। आध्यात्मिक गुरु के देने से जो ज्ञान आत्मा को प्राप
होता है, उससे उच्चतर और पवित्र वस्तु और कुछ नहीं है।

गुरु ही धर्म की आँखों का खोलने वाला— दिव्य प्रेम देने वाल
है। अतः गुरु के साथ हमारा रिश्ता पूर्वज और वंशज का, पिता
और पुत्र का होता है। गुरु धार्मिक पूर्वज (धर्म पिता) और शिष्य
उसका धार्मिक-वंशज (धर्म पुत्र) होता है। मां-बाप सिर्फ जन्म देते
हैं, पालन-पोषण करते हैं, किन्तु गुरु 'हम क्या हैं' को समझने के
लायक बना देता है। गुरु का महत्व एवं उत्तरदायित्व, माता और
पिता से उच्च है। मां-बाप सम्माननीय है। किन्तु परम श्रद्धेय,
प्राणों से अधिक प्रिय, एवं मोचक-मुक्तिदाता होता है आध्यात्मिक
महापुरुषों की यह वाणी शिष्यों के लिए वरदान-स्वरूप गूँज रही
है, और युगों-युगों तक गूँजती रहेगी। "तुम्हारा कल्याण हो,
मंगल हो, शोभन हो, प्रिय हो।"[1]

---

१. शिवं चास्तु, शुभं चास्तु, शोभनोऽस्तु, प्रियोऽस्त्विति।
—शि० पु० वा० सं० उ० ख०—१४।१५

मिशन गीत

हरमिलापी बनके दुनियाँ में सदा गुज़रान कर।
दिल किसी का मत दुखा तू हर में हरि पहिचानकर ।।
बन्दगी यह ही है जग में, बन्दों से गर प्यार हो।
दुखियों के आँसुओं में श्याम का दीदार हो ।।
सेवा दुखियों की किया कर, फरज़ अपना मानकर।
हरमिलापी बनके दुनियाँ में सदा गुज़रान कर ।।

× × ×

अपने से छोटे को गर तू इस तरह ठुकरायेगा।
क्या खबर किस रूप में प्रभु तुझसे मिलने आयेगा ।।
'हर' में 'हरि' को देख दिल में न कभी अभिमान कर ।।
हरमिलापी बनके दुनियाँ में सदा गुज़रान कर ।।

× × ×

छोटे बड़े का सवाल, तेरा उठाया है हुआ।
उसके तो दरबार में कर्मों का होगा फैसला ।।
काम नेकी के किया कर, दिल में ऐसा जानकर।
हरमिलापी बनके दुनियाँ में सदा गुज़रान कर ।।

× × ×

ऐब औरों के 'दिवाने' तू न देखाकर कभी।
वैठकर अपने किये का, भी तू लेखा कर कभी ।।
गुन का बन ग्राहक न औगुन की तरफ तू ध्यान कर।
हरमिलापी बनके दुनियाँ में सदा गुज़रान कर ।।

३. क्या हम गुरु-आश्रय के काबिल हैं

मसजिद तो बना दी पल भर में,
ईमान के दावेदारों ने।
मन अपना पुराना पापी था,
बरसों से नमाज़ी बन न सका ॥

क्यों नहीं बन सका नमाज़ी ? कारण स्पष्ट है हमारे अन्द ...मि... हैं। विकारों का समूह है ? मन चलायमान है, चित ...न्त है । अब यदि श्री सत्गुरु का शिष्यत्व पा भी लिया तो क्य ...दा। हर प्राणी जो गुरु-आश्रय धारण किये है या भविष्य ...रना चाहता है, वह पहिले निश्चय कर ले कि वह इस आश्रय के योग्य है ? क्या वह इस मार्ग पर चल सकता है ? यह मार्ग बड़ा कठिन है। किन्तु हमें हँसी आती है कि सत्गुरु पाकर भी हमारा मन बरसों भटकता रहा, और नमाज़ी नहीं बन सका है। इसका कारण यह है कि हमारे विचार पूर्ण धार्मिक नहीं हैं। हमारे अन्दर साहस, परख, नियम-पालन की प्रेरणा है हमारा मनोबल उच्च नहीं है। अवश्य ही हमारे मनोबल में कमी है।

मैं तो यही कहूँगा कि हमारे अन्दर साहस नहीं है। कुछ जानने की कामना का प्रभाव है। मनुष्य अपना स्वभाव आप ही बनाता है, जैसा सोचता है, वैसा बन जाता है। अपने भावी जीवन की परिस्थितियाँ दूसरों पर अपने कर्मों का प्रभाव डालकर स्वयं बनाता है। यदि आपके विचार ऊँचे और सादिक होंगे-तो आपकी कर्म-प्रवृत्ति भी वैसी ही होगी। विचार द्वारा मनुष्य बनता है। एक जन्म में जिस वस्तु का अधिक विचार करता है। अगले जन्म

में स्वयं भी वही बन जाता है ? ज़रा सी तकलीफ आई और हमारा धैर्य जाता रहा। जितने ही दृढ़ विचार होंगे उतनी जल्दी उनका फल होगा। शिष्य बनने की, गुरु-आश्रय की इच्छा सभी को होती है, किन्तु यह भी क्षणिक, थोड़ी देर के लिए। "जैसे समुद्र में एक लहर के बाद दूसरी लहर आती है और पहिली लहर बहुत दूर चली जाती है। प्रायः समाप्त हो जाती है। ठीक आजकल वैसे ही शिष्य में धार्मिक प्रवृत्ति पाई जाती है।" जब सेवक देखते हैं कि सत्गुरु हमारे घर आये हैं अथवा हमारे शहर आये हैं, तो थोड़ी ही देर में हम भक्त हो जाते हैं, कुछ देते-लेते हैं, भोजन-भण्डारा भी करवाते हैं। किन्तु इसमें भी हमें यश मिले, गुरुदेव हमें सबसे बड़ा प्रिय सेवक कहें-ऐसी भावनाएँ छिपी रहती हैं। यह धार्मिक प्रवृत्ति नहीं, उन्हीं क्षणमात्र लहरों की भांति है। उस पर भी हम शिष्य होने का दावा करते हैं और शिष्य का धर्म निभा नहीं सकते हैं। यह सब हमारी दुर्बलताएँ हैं, हम बहुत कुछ प्रारब्ध के सहारे छोड़ देते हैं। अपनी जिज्ञासा को परवान नहीं करते हैं। हमें दुर्बल भावनाओं ने घेर रक्खा है। हमारी कर्म-भावना, दास भावना ने भुगतान का स्वरूप ले लिया है। जो सबक श्री सत्गुरु से मिला था, उस पर विचार नहीं करते और प्रमादवश अपने भाग्य को कोसा करते हैं—योगवशिष्ठ में महर्षि वशिष्ठ ने सम्बोधन किया है—"जो लोग उद्योग का त्याग कर केवल दैव के भरोसे बैठे रहते हैं, वे अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-चारों पुरुषार्थों का नाश कर डालते हैं। वे आलसी मनुष्य आप ही अपने शत्रु हैं।"[1]

हमारे अन्दर एक भावना और जोर पकड़ रही है 'हर शिष्य यह सोचने लगता है कि गुरु-धारण करने के बाद वह धनवान हो

१. ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैव परायणः।
ते धर्ममर्थ कामं च नाशयन्त्यात्मविद्विषः ॥

जायेगा, उसके व्यापार में वृद्धि होगी। ऐसी तृष्णा ने हमें अशान्त कर दिया है। ऐसा जब नहीं हो सकता तो ऐसे सेवक अथवा व्यक्ति अपने आचरण को नहीं कोसते हैं, बल्कि श्री सतगुरु की आस्था पर शक करने लगते हैं। पूर्ण महापुरुष हर सेवक की मंशा समझते हैं, और वैसा ही सम्बन्ध उससे रखते हैं। इस स्वार्थ भावना का त्याग जरूरी है। बिना त्याग के कुछ नहीं हो सकता है। जिस प्रेम में कुछ पाने की आशा की जाती है, वह प्रेम नहीं, व्यापार है। एक लेन-देन है। गुरु-आश्रय की श्रेष्ठ कामना रखने वाले जिज्ञासु को यह सब छोड़ना होगा। तृष्णा और चंचल बंदरिया स्वभाव एक जैसा ही समझो।"

तृष्णा हृदय रूपी कमल में रहने वाली भ्रमरी है: यह क्षण में ..ल की ओर चली जाती है, फिर दूसरे ही क्षण आकाश की सैर करने लगती है। चारे के लोभ से जिस प्रकार चंचल चिड़िया बिना फल वाले पेड़ से फल वाले पेड़ पर उछल कर चली जाती है, उसी प्रकार तृष्णा भी विवेकी एवं विरक्त पुरुष को छोड़कर विषयों में खोये पुरुष के पास चली जाती है। संसार में जितने दोष हैं, उन सब में एकमात्र तृष्णा ही ऐसी है, जो दीर्घ काल तक दुःख देती रहती है। जीवों के हृदय में रहने वाली यह तृष्णा जितनी तीखी है, वैसी तीखी तो न तलवार की धार है, और न आग में तपते हुए लोह-कणों की चिनगारियां ही हैं। भक्त कबीर कहते हैं—

दोहा—माया मरी न मन मरा, मर मर गये शरीर।
आशा तृष्णा ना मरी, कह गये दास कबीर॥
साईं इतना दीजिये, जामें कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधू न भूखा जाय॥

पवित्रता एवं शुद्ध प्रेम के बिना कुछ सम्भव नहीं है। जिस प्रकार मैले दर्पण में मैली छाया पड़ती है और दर्शन भी अस्पष्ट होता है। वैसे ही अपवित्र हृदय आस्थाहीन होते हैं। कुछ बौद्धिक

विकास के उपरान्त कुछ जिज्ञासु गुरु आश्रय की जरूरत महसूस नहीं करते हैं और स्वयं को कुछ का कुछ समझने लगते हैं। यह अहमन्यता है। गुरु आश्रय पाकर तत्वज्ञान पाना जरूरी है जिसके लिए बरसों तक साधना करनी पड़ती है। मात्र तर्क जाल में पड़े जिज्ञासु श्री सत्गुरु की नज़रों से गिर जाते हैं। क्योंकि ऐसी विचारधारा वाला जिज्ञासु अज्ञान के अन्धकार में पड़ा हुआ अपना जन्म बिगाड़ लेता है। ऐसे भ्रम एवं प्रमाद में डूबे हुओं को महर्षि वशिष्ठ का यह उपदेश सदैव याद रखना चाहिए। "जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है, पुनर्जन्म की नहीं, उसी का नाम ज्ञान है। उसके अतिरिक्त दूसरा जो शब्द ज्ञान का चातुर्य है, वह तो रोटी की कला-मात्र है। उसे केवल भोजन जुटाने वाली व्यवस्था समझना चाहिए।"[1] अतः गुरु-आश्रय को छोड़ने के विचार लाना भी पाप है। जिसने परखते हुए कोई भी गुरु-आश्रय ग्रहण किया है, वह उसी का होकर रहे, ऐसा शास्त्रों में धर्म सम्मति कहा गया है। अतः गुरु के प्रति विशुद्ध प्रेम एवं पवित्रता होनी चाहिए।

मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाला उसका शत्रु है अहंकार। इससे बचना बड़ा दुस्तर है। यह बड़े-बड़े योगियों तक को अन्धकार के पर्दे से ढक लेता है। यह स्थूल 'मैं' बड़ी भारी अड़चन है। जैसे बादल सूर्य को ढक लेता है, ऐसे

---

१. अपुनर्जन्मने यः स्याद् बोधः स ज्ञान शब्दभाक्।
वसनाशनदा शेषा व्यवस्था शिल्पजीविका ॥
—(योगवासिष्ठ, निर्वाण प्रकरण उ० २२।४)

ही अहंकार का बादल ज्ञान सूर्य को ढक लेता है। 'अहंकार' का पोधा 'मेरी' और 'तेरी' लम्बी शाखाओं से इधर उधर फैलता है। और बड़ा मजबूत हो जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र के जिज्ञासु को अहंकार को मिटाना होगा। जब तक 'खुदी' रहती है, तभी तक द्वैत के विचार रहते हैं। माया ही अहंकार है। मन अहंकार का दूसरा नाम है। संसार अहंकार है। आज कल के युवक एम० ए०, डॉक्टरेट जैसी उपाधियां लेने के उपरान्त धार्मिक विचारों की ओर इस लिए ध्यान नहीं देते हैं क्योंकि उनमें विद्वता और कालिजी डिग्रियों का मिथ्या अहंकार होता है। गुरु-आश्रय में आने से पहले 'आत्म निवेदन' ,,रन. होगा। अन्धकार एक साथ नहीं जा सकता है। धीरे-धीरे कोशिश करनी चाहिए। केवल सत्-पुरुष ही ज्ञान-दान द्वारा इस दोष से छुटकारा दिला सकते हैं। प्रमाण, योग द्वारा चित्त शुद्ध करके ही महापुरुषों की शरण ग्रहण के योग्य होता है। और सरल शब्दों में—जैसे चन्द्रमा राहु को निगल जाता है, कमलों को हिम या ओलों की वर्षा नष्ट कर देती है और शरद ऋतु मेघों को समाप्त कर देती है, उसी प्रकार अंधकार शान्ति, क्षमा, दया, तथा सम भाव प्राणी मात्र में को नष्ट कर देता है। कबीर जी कहते हैं—

दोहा—"पीया चाहै प्रेम-रस, राखा चाहै मान।
एक म्यान में दो खड़ग देखा सुना न कान ॥"

प्रेम-रस का स्वाद चाहने वाले जिज्ञासु को राग, द्वेष एवं घृणा का विचार त्यागना होगा। प्रेम-मार्ग में जलन, अपना-

पराया, शत्रु-मित्र का प्रश्न नहीं है। यदि आप किसी कुत्ते के सामने एक बड़ा आइना और एक रोटी रख दें तो कुत्ता आइने में अपनी छाया देखकर भूकेगा। मूर्खतावश वह समझता है कि दूसरा कुत्ता भूकता है। इसी प्रकार मनुष्य अपने ही मन-रूपी दर्पण में सारे मनुष्यों का प्रतिबिम्ब देखता है, परन्तु कुत्ते के समान मूर्खतावश उसमें सम भाव नहीं रखता और समझता है कि वे सब उससे जुदा हैं। और घृणा द्वेष से उनसे प्रेम भाव पैदा नहीं कर सकता है। यही अज्ञान है। गुरु-आश्रय या महापुरुषों की संगति पाने वाले को हर प्रकार की कामनाओं का त्याग करना होगा, तभी मार्ग में ज्ञान-प्रकाश होगा।

महापुरुष स्वयं आस्थावान होते हैं। उन्हें आस्थावान सेवकों की ही जरूरत होती है। दोष ढूंढने वाले एवं निन्दा करने वालों के लिए यह सारा संसार खुला है। निन्दक के लिए यह जगत निन्दा का विषय है। सत् पुरुषों के लिए यही पूजा एवं प्रेम का क्षेत्र है। अपने श्री सत्गुरु पर आपकी श्रद्धा है, प्रेम है—स्वयँ अपने अन्दर से उत्तर ढूंढो। श्रद्धा विश्वास द्वारा साधारण पुरुष को भी ईश्वर मान कर पूजा जा सकता है। महा पुरुष तो ईश्वर के नुमांइदे हैं, ईश्वर स्वरूप ही होते हैं। सूर्य को देखने की जरूरत नहीं होती है, वह स्वयं ही उदय होता है। संसार का अन्धकार दूर करता है। गुरु सेवा के लिए रामायण ने विशेष आदेश दिया है। वेद, शास्त्र, स्मृति, पुराणादि सब में यही आदेश मिलता है—

"गुरुमेवापि गच्छेत् समित्त पाणी श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्टम्"

मुक्तीक उपनिषद् में राम जी ने हनुमान को कहा-
"हे मारुते जो शिष्य सर्वदा सेवा-परायण होकर पुत्र समा
हितकारी, सदा मेरी ही भक्ति में संलग्न, उत्तम स्वभा
वाला, श्रेष्ठ कुल में जन्म लेकर परमार्थ बुद्धि में ही तत्पर है
मेरी समीपता को प्राप्त कर ही लेता है।"[1] निर्णय—सेवा का
ही महत्व है। इस पर एक लघु कथा है।

गुरु अर्जुन देव जी महाराज के दरबार में एक सिख
रहता था, जो भण्डार से भोजनादि तो खा लेता था, परन्तु
गुरु दरबार की नहीं करता था। यदि कोई सत्संगी उससे
सेवा के लिए कहते तो वह उत्तर देता कि मैं तुम्हारा सेवक
नहीं, जो तुम्हारे कहने पर सेवा करूँ। जब गुरु महाराज सेवा
बतायेंगे तो तब करूंगा। कोई भी उससे सेवा के लिए कहता
तो वह यही उत्तर देता। होते होते यह बात फैल गई। श्री
गुरु महाराज ने सुना कि अमुक मनुष्य दरबार में रहता है
परन्तु सेवा नहीं करता। एक दिन आप सत्संग कर रहे थे।
सत्संग के बीच में आपने फरमाया कि सेवा एक सार वस्तु है—
इससे मन शुद्ध होता है और जिन अंगों से सेवा की जाती है,
वह अंग पवित्र होते हैं। अर्थात् हाथ पैर तब पवित्र होते

१—सेवा पराय शिष्याम, हित पुत्राय मारुते।
मद्भक्ताय सुशीलाय कुलीनाय सुमेधसेः।
—मुक्तीक उपनिषद्

हैं, जब मनुष्य इनसे सेवा का काम ले, नहीं तो अंग किस काम के हैं ?

"श्रवण सोई सुने ईश-कथा, और शीश सोई गुरु को निमझावे।
बैन सोई प्रभु गीत कहे-और नैन वही गुरु दर्शन पावे ॥
हाथ सोई गुरु-सेवा करे और पांव सोई चल सत्संग जावे।
जामें यह गुण नाहिं करें, सो मनुष्य जन्म को वृथा गंवावे ॥"

भाई गुरुदास जी लिखते हैं

"धृग सिर जो गुरु न निवे गुरु लगे न चरणी।
धृग नेत्र गुरु दरस बिन देखे पर तरुणी ॥
धृग श्रवण उपदेश बिन सुन सुरत न धरणी।
धृग जिह्वा गुरु मंत्र बिन होर मंत्र सिमरिणी।
बिन सेवा धृग हत्थ पैर होर निष्फल करणी।
पीर मुरीदां पिरहड़ी सुख सत्गुरु शरणी ॥"

—इसी प्रकार रामायण में तुलसीदास जी लिखते हैं—

जिन हरि कथा सुनि नहि काना। श्रवणरन्ध्र अहि भवन समाना ॥
नयनन सन्त दरश नहिं देखा। लोचन मोर पंख कर लेखा ॥
ते शिर कटु तुमरी सम तूला। जे न नमत्त हरि गुरु पद मूला ॥
जे न कराही राम गुण गाना। जीह सो दादुर जीह समाना ॥

गुरुवाणी आता है—

"पाँव सुहावे जां तौ उधर जुलदे, शीश सुहावा चरणी।
मुख सुहावा जां तौ यश गावे, जीव पयाँ तौ शरणी ॥"

इस प्रकार गुरुदेव सत्संग कर रहे थे। वह सिक्ख सत्संग में बैठा था। यह सुन उठकर प्रार्थना

कृपा निधान, मैं तो आपका ही सेवक हूँ। आप स्वयं मुझे दरिया में डूबने या आग में जलने का हुक्म दें तो मैं इन्कार नहीं करूंगा। परन्तु इन लोगों के कहने से सेवा नहीं कर सकता। गुरु महाराज मुस्कराये और बोले, 'भाई यदि हम तुझको आग में जलने की आज्ञा दें तो क्या उसे मान लेगा ?' वह बोला अवश्य मान लूंगा। कहना तो सुगम है किन्तु करके दिखाना कठिन है। किसी ने मिसाल पेश की है—

"जुबाँ से बात करने में हर इक हुशियार काफी है।
मगर गुफ्तार पर रखता कोई रफ़्तार काफी है॥
कोई पढ़ता जुलेखाँ है, गुलिस्ताँ बोस्ताँ कोई—
वलै मतलब समझने को अलिफ रो यार काफी है॥"

शेर—बच्चों का नहीं खेल यह मैदाने मुहब्बत—
आये जो यहाँ सर पे कफन बांध के आये!!

तात्पर्य यह है कि जो करने वाले होते हैं, उनके लिए सेवा का मार्ग हर समय खुला है और जो केवल यूं ही बातें बनाने वाले होते हैं, उनको चाहे स्वयं सत्गुरु देव आज्ञा करें तो वह उसकी कदर नहीं जान सकते हैं।

"सेवक मुखों कहावही, सेवा में दृढ़ नाहि।
कहे कबीर सो सेवका, लख चौरासी माँहि॥"

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध कुछ इस प्रकार है, जो हर मनुष्य की समझ में नहीं आ सकता। कुछ मनुष्य थोड़े दिन ही गुरु की संगति में रह कर अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेते हैं और कई गुरु-दरबार में बरसों रहते हुए भी उनकी दात

से खाली रहते हैं। लक्ष्य के जिज्ञासु यह भली भाँति जानते हैं कि "जो पुरुष उदार-स्वभाव तथा सत्कर्म के सम्पादन में कुशल है, सदाचार ही जिसका विहार है, वह जगत के मोह-पाश से वैसे ही निकल जाता है, जैसे पिंजड़े से सिंह।"[1] समय दोनों का व्यतीत हो जाता है, परन्तु उस समय में एक तो पूरा २ लाभ उठा लेते हैं, और दूसरे तेली के बैल की तरह चलते हुए भी वहीं खड़े रहते हैं।

कारण उसका यह है—सेवा के भाव को न समझ कर सेवा करते हैं, यथार्थ रूप में वही सेवा है—जो हृदय से प्रेम के साथ की जावे। किन्तु कई इसके विरुद्ध उसे भुगतान समझ कर ऊपर-ऊपर से भुगता देते हैं। मन का प्रेम उसमें शामिल नहीं होता और प्रेम के बिना सेवा का पूर्ण लाभ नहीं होता। रामायण में काकभुशुण्ड जी गरुड़ को कहते हैं—

दोहा—'सेवक सेवा भाव बिनु भव न तरे उरगारि।
भजो राम-पद-पंकज, अस सिद्धान्त विचारि॥

भाव—सेवक का सेवा और प्रेम के बिना इस संसार-सागर से पार होना असम्भव है। इस सिद्धान्त का दृढ़ निश्चय करके ही भगवान राम के चरण-कमलों का भजन करो। "भक्ति के मार्ग में सेवा और प्रेम का होना आवश्यक है। जिस प्रकार पंछी अपने दो परों की सहायता से आकाश

---

१. यस्तूदारचमत्कारः सदाचार विहारवान्।
स निर्याति जगन्मोहान्मृगेन्द्रः पञ्जरादिव॥
—योगवासिष्ठ : मुमुक्ष-प्रकरण ६:२८

में उड़ जाता है, उसी प्रकार सेवा और प्रेम दोनों से जिज्ञासु अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है। जैसे कर्म उपासना से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। सेवा कर्म है, प्रेम उपासना है। सेवा का सम्बन्ध शरीर से है, इंद्रियों से है। प्रेम का सम्बन्ध मन से है, हृदय से है। तो, कर्म उपासना से स्वतः ही ज्ञान हो जाता है। जैसे ऋणात्मक (Negative) और घनात्मक (Positive) दोनों तारें मिलें तो प्रकाश स्वतः आ जाता है। वह सेवक बेचारा गुरु दरबार में तो बेशक रहता था, परन्तु सेवा और प्रेम से वंचित था। बिना सच्ची लगन-श्रद्धा के सेवा हो ही नहीं सकती। जब उसने इस प्रकार प्रार्थना की कि गुरु महाराज, यदि मुझे अग्नि में जलने की आज्ञा दें तो भी मैं तैयार हूं। तब श्री गुरुदेव जी बोले—अगर तू हमारे कहने पर आग में जलने को तैयार है तो अमुक वन में चिता बना कर उसमें अपने आप को जला दे। यह आज्ञा पाकर वह वन की ओर चल पड़ा और चिता के लिए लकड़ियां एकत्रित करने लगा। लकड़ियां चुन तो रहा था, परन्तु मन में जलने का ख्याल कहां? मुड़के पीछे देख रहा था कि गुरु महाराज कोई व्यक्ति भेजेंगे कि बेटा न जल। वह तो केवल देखना ही चाहते थे कि जाता है या नहीं। गुरुदेव जलाते थोड़ा हैं। फिर विचार करने लगा, यदि जल भी जाऊँ तो लाभ क्या होगा। मानव शरीर यों ही वृथा खो बैठूंगा। एक महापुरुष का कथन है—

"प्रेम-राह विच मारू बदल, ज़ालिम बिजली कड़के।
ओहनां मंजिल तैं की करनी, जिन्हां दा दिल धड़के॥"

"प्रेम का मार्ग नहीं, तलवार की धार है।
वह ही इस पर चल सके, जो सिर खेले यार है॥
काम कमज़ोर का इस रस्ते पे जाने का नहीं—
कदम जो धरके दिखलावे, पहलवां हुशियार है॥"

दोहा—'जब लग मरने से डरे, तब लग जीवन नाहिं।
बड़ी दूर है प्रेम घर, समझ लेहु मन-माहिं॥'

वह चारों ओर चिता के चक्कर लगा रहा था—परन्तु जलने को जी नहीं करता। बार-बार पीछे मुड़के देखता कि शायद कोई आदमी उसे चिता में जलने से रोकने के लिए आ रहा हो। इतने में एक चोर वहां आ निकला जो किसी सेठ का धन लूट कर लाया था। उसने देखा कि एक व्यक्ति चिता जला कर उसके चारों ओर फिर रहा है। पूछा—भाई इसका क्या कारण है ? उसने उत्तर दिया, "मुझे गुरु का हुक्म मिला है कि मैं इस वन में चिता जला कर देह त्याग दूं। आग तो जला दी है, किन्तु जलने से जी घबड़ाता है। सोचता हूं कि इस तरह बिना कारण जीवन को नष्ट कर देने से क्या लाभ ? दूसरा यह विचार भी आता है कि संभव है कि गुरु महाराज इस काम से रोकने के लिए किसी सिख को पीछे से भेज दें।" चोर ने उसकी बात को सुना, सुनते ही पूर्व के संस्कारों ने पलटा खाया। भाग्य जाग पड़े और गुरु-महाराज का नाम सुनते ही गद्‌गद् हो गया और कहने लगा—मित्र एक विनती है, यदि तू स्वीकार करले तो मैं कुछ कहूं। वह बोला- क्या

वह तू ले ले। और उसके बदले में गुरु का हुक्म मुझे दे दे मैं इस चिता में जलने को तैयार हूं।"

घबड़ाये हुए दुर्बल हृदय वाले को और क्या चाहिए था उसने [सेवक ने] सोचा वाह भाई वाह, प्रभु ने गांठ का मो अक्ल का खोटा भेजा है। ऐसा सौदा फिर कब हाथ आयेगा एक तो जान बचती है, दूसरा माल हाथ आता है। गुरु क हुक्म मानने से क्या लाभ? यह निर्णय कर कहने लगा, " भाई गुरु का हुक्म और माल मेरे हवाले कर।" चोर ने सह धन दे दिया और आप गुरु का हुक्म मान चिता में कूद गया वहां एक प्रकाश [भाव-रोशनी] हुआ, जो ऊपर को चल गया। आत्मा से आत्मा जा मिली।

वह सिख [गुरु-विमुख] लालच के वशीभूत होकर धन कं देखभाल कर रहा था कि माल के खोजी पहुंच गये। उन्होंने आते ही उसे बांध लिया और सहित धन के हाकिम के सम्मुख उपस्थित किया। हाकिम ने पूछा—बोल तुझे क्या दण्ड दिया जाय? बोला–हजूर, न मैं चोर हूँ, न मैंने चोरी की है। मुझे तो श्री गुरु अर्जुनदेव जी का हुक्म मिला था कि वन में चिता बना कर जल जा। मैंने चिता तो जलायी, परन्तु जलने को मन नहीं चाहता था। इतने में एक चोर आया उसने यह धन-माल मुझे दे दिया। उसके बदले में गुरु का हुक्म मुझसे ले लिया और चिता में कूद कर जल गया। अपराधी आपका वह था। हाकिम ने कहा—हमारा चोर भी तू है, और जो गुरु से विमुख है, उसका मुख देखना भी पाप है, तू महापापी है।

गुरु के हुक्म से बचकर तूं निकल आया, परन्तु काल के हुक्म से बचकर कहाँ जायेगा ? हुक्म दिया—इसे मार डालो। वह बुरी तरह मारा गया।

"गुरु से कपट करे चतुराई।
सो हंसा भव भरिये जाई॥
जो शिष्य गुरु की निन्दा करई।
सूकर, स्वान गर्भ में परई॥
गुरु के वचन प्रतीत न जेही।
स्वप्नेहु सुगम न सुरत सिद्धि तेही॥"

यह एक दृष्टान्त था। किन्तु जो व्यक्ति विषयों में लीन है, वह गुरु आज्ञा की कीमत क्या जाने ? विषयों में उनकी आसक्ति उन्हें कड़ी जंजीरों में जकड़े रहती है। वह प्रमाद में खोये जिज्ञासु शायद नहीं जानते कि "महाबन्धन में डालने वाले विषय सदा बढ़ते रहते हैं। जिसका मन विषयों के वशीभूत हो गया है, उसके लिए मोक्ष स्वप्न में भी दुर्लभ है। विद्वान पुरुष यदि सच्चा सुख चाहता है तो वह विषयों को विधिपूर्वक (भाव-गुरु की शरण में आकर) त्याग दे। विषयों को विष के समान बताया गया है। जिसके द्वारा मनुष्य मारा जाता है। विषयो के साथ वार्ता करने मात्र से मनुष्य क्षण भर में पतित हो जाता है। आचार्यों (महापुरुषों) ने विषय को

मिश्री मिली हुई वारुणी (मदिरा) कहा है।"[1]

उपदेश इसलिए नहीं होता कि हर चीज हर समय परमार्थ का साधन गूढ़ एवं दुर्गम करदें। उपदेश तो इसलिए होता है कि हर क्रिया या विद्या (सद्ज्ञान) इतनी सरल दिखायी देने लगे कि हर मनुष्य उसे अपना साधन मानकर लक्ष्य की प्राप्ति करले। और वास्तव में उपदेश वही है, जो वर्षों का कार्य सैकिण्डों में कर दे। असम्भव को संभव दिखा दे। अज्ञेय को ज्ञान करादे। भय से निर्भय करदे। वही गुरु है। श्री शुकदेव ने साधन नहीं कराया। मिनटों में परीक्षित को स्वरूप का बोध कराके निर्भय कर दिया। आत्म तत्व का उपदेष्टा ही गुरु है। अन्य विद्याओं, क्रियाओं व साधनों के वक्ता तो आचार्य हो सकते हैं गुरु नहीं। जिज्ञासु को चाहिए कि वह लगनशील हो, हृदय में सच्ची चाहना हो। भरे हुए घड़े का पानी नहीं फैलता है, हमेशा अधजल गगरी ही छलकती है। जिस शिष्य में कामना होती है गुरु-आश्रय की—उसे गुरु-महाजन भी पहिचान जाते हैं। वहां वाणी मौन रहती है—हृदय हृदय से बोलता है।

---

१. बर्द्धन्ते विषया-शश्वन्महाबन्धन कारिणः।
विषयाक्रान्त मनसः स्वप्ने मोक्षोऽपि दुर्लभः॥
सुखमिच्छति चेत् प्राज्ञो विधिवद् विषयांस्त्यजेत्।
विषवद् विषयानाहुर्विषयै र्यैर्निहन्यते॥
जनो विषयिणा साकं वार्तातः पतति क्षणात्।
विषयं प्राहुराचार्याः सितालिप्तेन्द्र वारुणी मे॥
—शिव पुराण रू० सं० पा० ख० २४।६३-६५

निर्णय एक बार फिर कहते है—यह राह बड़ी टेढ़ी है। यहां सब कुछ त्याग देना होगा। राग द्वेप, अभिमान के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। जिस जिज्ञासु को गुरु-आश्रय चाहिए वह स्वयं अपने अन्दर झांक कर अपनी योग्यता देख ले। सत्गुरु धनादि, वैभव के भूखे नहीं होते। उन्हें हृदय का प्रेमी एवं निष्ठावान सेवक चाहिए। चाहे वह लाखों मील दूर क्यों न हो। इस मंजिल की ओर जिन्हें भी कदम रखना है—उनकी सेवा-प्रेम एवं विचार कैसे हैं—केवल मात्र इशारा करते हैं—"जहां अपूज्य पुरुषों की पूजा होती है, और पूज्यनीय पुरुषों की पूजा नहीं होती (भाव-उनमें निष्ठा एवं श्रद्धा नहीं रखी जाती) वहां दरिद्रता, मृत्यु एवं भय—ये तीन संकट अवश्य प्राप्त होते हैं।"[1] इस राह में चलने वालों के लिए-श्री गुरुदेव के प्रति कैसी भावना हो, कैसे विचार हों—पहला मूल मंत्र यही है—"जैसे शिव हैं, वैसे आप हैं। जैसे आप हैं, वैसे शिव हैं।"[2]

जब तक अपने आप का जुम्मा स्वयं हम न लेंगे, तब तक हजारों राम कृष्ण, व सन्त-गुरु, महापुरुष भी हमें सुधार नहीं सकते, और हम उनसे कुछ पा नहीं सकते। राम कृष्णादि अवतारों ने पापियों को सुधारा नहीं, मारा है। 'प्रभु' परमात्मा की कृपा है—यह तो समझता है और पुरुषार्थ, सही

१—अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूजनीयो न पूज्यते।
त्रीणि तत्र भविष्यति दारिद्रयं मरणं भयम्॥
(शिव-पुराण-रु०सं०खं० ३५।१९).

२—यथा शिवस्तथा त्वं हि यथा त्वं च तथा शिवः।

पुरुषार्थ, हमें करना है। फिर देखो कि इधर उधर कृपा ह कृपा दिखायी देगी। संयम, कर्म, उपासना के बिना संत, सद्गुरु के रूप में दौड़ी आयी कृपा को समझना मुश्किल है। इसलिए आज से ही क्यों-बल्कि अभी से—इसी क्षण से, "अशुभ कर्मों में लगे हुए मन को वहाँ से हटाकर प्रयत्न पूर्वक शुभ कर्मों में लगाना चाहिए। यह सब शास्त्रों के सार का संग्रह है। जो वस्तु कल्याणकारी है, वह तुच्छ नहीं है (वही श्रेष्ठ है), तथा जिसका कभी नाश नहीं होता—उसीका यत्नपूर्वक आचरण करना चाहिए—गुरुजन (महापुरुष) ही उपदेश देते हैं।"[1]

१—अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत।
प्रयत्नाच्चित्तमित्येष सर्वशास्त्रार्थसंग्रहः॥
यच्छ्रेयो यदतुच्छं च यदपाय विवर्जितम्।
तत्तदाचर यत्नेन पुत्रेति गुरवः स्थिताः॥
—योगवासिष्ठ-मुमुक्षु-प्रकरण ७।१२।१

जिसका जी चाहे

गुरु की मूर्ति मन में बसालो जिसका जी चाहे !
गुरु चरणों में बिगड़ी बनालो जिसका जी चाहे !!...

गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु, गुरु महादेव देवन के,
यही मन में सदा निश्चय बिठालो जिसका जी चाहे !!...

धनुष तोड़ा तभी श्री राम ने जब ध्यान को धारा,
पवन सुत की तरह पर्वत उठा लो जिसका जी चाहे !!...

गुरु कृपा से नारद की चौरासी कट गई पल भर में,
जनक शुकदेव की पदवी को पालो जिसका जी चाहे !!...

गुरु पूजा किये जावो पुजारी, प्रेम से निशदिन
श्री चरणों में दो आँसू बहालो जिसका जी चाहे !!...

शिष्याचरण एवं उसके कर्त्तव्य

यह अभिमान कि हमें आध्यात्मिक ज्ञान है—का त्या करके श्री गुरु के चरणों में आत्म-समर्पण कर देना चाहिए आध्यात्मिक-अनुभूति के लिए सम्पूर्ण आत्म-समर्पण ह एकमात्र उपाय है। आध्यात्मिक अनुभूति की प्राप्ति में एव महत्वपूर्ण बात शिष्य की मनोवृत्ति है। जब अधिकारी योग्य होता है तो सर्वत्र कृपा ही कृपा दिखाई देती है। महापुरुष का यह उपदेश पूरी तरह सत्य है कि "दूसरों के प्रति जैसा वर्ताव किया जावेगा (भाव-हमारी जैसी मनोवृत्ति होगी), वह अपने लिए ही फलित होगा। अतः ऐसा कार्य कभी नहीं करना चाहिए, जो दूसरों को कष्ट देने वाला हो।"[1] अतः हमारा मनोबल जब तक उच्चकोटि का नहीं होगा, हमारा आचरण उत्तम नहीं होगा, हमारे अन्दर शिष्य के उत्तम-लक्षण नहीं होंगे, तब तक यह सारमय वाक्य हम नहीं समझ सकते हैं। "जिसके श्रेष्ठ सग से लोभ, मोह और क्रोध प्रतिदिन क्षीण होते हों और जो शास्त्र के अनुसार अपने कर्मों का आचरण करने में लगा रहता हो, वह सत् पुरुष है।"[2] अतएव

१—परं द्वेष्टि परेषां यदात्मनस्तद्भविष्यति।
परेषां क्लेदनं कर्म न कार्यं तत्कदाचन॥ (शिव-पुराण)

२—लोभमोहरूषां यस्य तनुतानुदिनं भवेत्।
यथा शास्त्रं विहरति स्वकर्मसु स सज्जनः॥
—योगवसिष्ठ-स्थिति प्रकरण ३३।१५

जितने कड़े नियम पूर्ण सत्गुरु के उत्तरदायित्व में आते हैं, ठीक वैसे ही शिष्य, सेवक का धर्म भी कड़ा है। छुरे की धार की तरह तेज है। अच्छे-अच्छे लोगों के पैर डगमगा जाते हैं। यदि हम जीवन्त सत्य का जीवन्त ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो उसमें हमें सच्चाई के साथ दीक्षित होना होगा, और आगे बढ़ना और मानव जाति को आगे बढ़ाना होगा—यही आदर्श है।

महापुरुषों के शुभ-संदेश ने हमेशा नये, आदर्शमय समाज का निर्माण किया है। हमारे पुराणों का विभिन्न अवतारवाद इसकी उच्चकोटि की मिसाल है। साधु तो समाज का दर्पण होता है। यह महापुरुष उन प्रथम प्रकाशमान दीपों के समान हैं, जिनके द्वारा दूसरे दीप जलाये जायेंगे और करोड़ों दीप जल जाते हैं। प्रथम दीप श्री गुरुदेव होते हैं और जो दीप उनसे जलाया जाता है, वह शिष्य है। दूसरा अपनी बारी आने पर गुरु बनता है, और यह क्रम चलता रहता है। आध्यात्मिक अनुभूति के विकासवाद का यही सिद्धान्त है। गुरु शक्ति शिष्य को किसी भी रूप में हासिल हो सकती है। यह भी हो सकता है, गुरु तुम्हारे पास मनुष्य के रूप में आये और तुम पहचान न सको, परख नहीं कर सको। परख करने वाले उनसे शक्ति प्राप्त कर लेंगे। कभी-कभी गुरु-कृपा स्वप्न में आये और तुम्हें कुछ दे जाये। अथवा तुम उसे समझ ही न सको। निष्कर्ष यही है कि गुरु की शक्ति हम तक अनेक प्रकार से आ सकती है।

हम कई बार कह चुके हैं और फिर दोहराते हैं, निर
कार को उपासना कठिन होती है। जब तक परीक्षा में उत्ती
न हो, जब तक जीव अपनी मंजिल तक नहीं पहुँच सकता है
श्रेय पथ में पहिले दुःख होता है परन्तु उसका परिणा
सुख होता है और उसके विपरीत प्रिय-मार्ग में प्रथम सु
दीखता है परन्तु पश्चात दुःख ही दुःख होता है। जं
जिज्ञासु होता है, वह श्रेय पथ में दुःख झेलता हुआ अन्त में
अविनाशी सुख का अनुभव करता है। 'सब ते सेवक धर्म
कठोरा'—प्रथम उसको सेवा में अपने सुख, आराम को छोड़ना
पड़ता है। जब गुरुदेव के चरणों में रह कर, अपने शरीर के
सुखों को त्याग कर, सेवा में तन, मन से लग जाता है तो
अन्त में वही उनका कृपापात्र बन कर संसार में चमक जाता
है और पूजा के योग्य बन जाता है।

गुरु-शिष्य परम्परा को चलाने में शिष्य का महत्वपूर्ण
योगदान है। हिन्दू-मत के अनुसार शिष्य ही गुरु का उत्तरा-
धिकारी होता है। यदि सन्यास ग्रहण करने से पूर्व उसका
कोई पुत्र भी हो तो वह भी इस अधिकार से वंचित रह
सकता है। अतः स्पष्ट है—यह नाता पूर्ण आध्यात्मिक है।
'योंकी' लोगों की तरह 'शिक्षक' बनाने का पेशा नहीं है।
कोई भी बुद्धिमान जो कल्याण चाहने वाला है, वह गुरु के
प्रति मन, वाणी और कर्म द्वारा कभी मिथ्याचार-कपटपूर्ण
व्यवहार नहीं करें। श्री गुरु आज्ञा दें अथवा ना दें—शिष्य
सदा उनका हित एवं प्रिय का ही चिन्तन करे। उनके सामने
और पीठ पीछे भी उनका कार्य करता रहे। "ऐसे आचार से

युक्त, गुरु-भक्त, और उत्साही पात्र ही गुरु का प्रिय शिष्य होता है।"

उत्तम सेवक वह है, जो स्वामी के हृदय की बात जान ले। मध्यम वह है जो श्री गुरु की आज्ञा पाकर उसका शीघ्र पालन करे और जो आज्ञा का पालन नहीं करें वह अधम होता है। शिष्य का परम कर्तव्य गुरुदेव की सेवा का है और सेवा भी वह जिसमें उनकी पूर्ण-प्रसन्नता हो। कई सेवक अपनी ओर से तो सेवा करते हैं, परन्तु स्वामी की प्रसन्नता यदि उससे नहीं होती तो उस सेवा से लाभ न होगा। सेवा वही उत्तम है, जिसमें स्वामी की प्रसन्नता हो—अर्थात् अपनी मनमानी जिसमें न हो वही सेवा होती है। "जो आज दूसरों के प्रति श्रद्धा-सम्मान है वही कल तुम्हारे लिए है।"[1] हमारी सद्भावनाओं के अन्तर्गत ही सत्य-वस्तु का निवास होता है। स्वयं भगवान की भावनायें देखिये—

"भाव का भूखा हूँ मैं, और भाव ही एक सार है।
भाव से मुझको भजै तो, भव से बेड़ा पार है॥
भाव बिन सर्वस्व भी, देवे तो मैं लेता नहीं।
भाव से इक फूल भी, देवे मुझे स्वीकार है॥
अन्न, धन, भूषण, वसन, कुछ भी न मुझको चाहिए—
भाव वाले भक्त का भरपूर, मुझ पर भार है॥

1. Today to respect others, meant to self tomorrow.

भाव बिन सूनी पुकारें, मैं कभी सुनता नहीं---
भाव पूरित टेर एक, करती मुझे लाचार है।
बाँध लेते हैं मुझे यूं भक्त दृढ़ जंजीर में---
इसलिए रस भूमि पर, होता मेरा अवतार है।।"

—मिसाल के तौर पर छोटा-सा कीट पत्थर में भ अपना स्थान बना लेता है। वह सेवक क्या जो अपने स्वाम के हृदय में अपना स्थान नहीं बनाता है ? साधारण प्राणियो और भक्तों में केवल अन्तर ही इतना है कि संसारी अपने मन और शरीर को आज़ाद रखना चाहते हैं, इसलिए उनकी रूह बंधन में जकड़ी जाती है और भक्त गुरु के वचनों पर चलते हैं, उनकी आज्ञा के बन्धन में रह कर अपनी रूह को बन्धनों से मुक्त कर लेता है।

कोड़ा जरा सा और पत्थर में घर करे।
इन्सान क्या जो न दिले-दिलबर में घर करे।।

संक्षेप में शिष्य का क्या धर्म है, बतलाते हैं।

यथा शक्ति गुरु सेवा कीजे। आज्ञा गुरु की सिर धर लीजे।।
जो कुछ श्रेष्ठ पदारथ पावे। सो गुरु-चरणन आन चढ़ावे।।
करे यथाविधि गुरु की पूजा। शेष रहे कर्त्तव्य न दूजा।।
प्रबल पाप सब नाशें तन के। पूरण होहिं मनोरथ मन के।।
जो गुरु तजि कर औरें जावे। होहि दरिद्री अति दुख पावे।।
बिन गुरु दर्शन के ना रहिये। यह दृढ़ नियम हृदय में गहिये।।

जो बिन दर्शन करें अहारा। होइ व्याधि तन विविध प्रकारा।।
कभी न बैठे पाँव पसारी। जंघा पद धर आसन मारी।।
सन्मुख होकर गमन न कीजै। गुरु-छाया पर पांव न दीजै।।
गुप्त बात किंचित न राखे। तजकर कपट सत्य ही भाखे।।

सारांश यह है उत्तम आचरण का पालन करना चाहिए। कोशिश यही होनी चाहिए कि गुरु के बंधन में बंधकर जीव से जगदीश बना जाए। जिसके मन और शरीर पर गुरु का बन्धन नहीं है, वह जीव काल और माया के बन्धन में पड़ते हैं। अर्थात जो जीव गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करते उनपर यमदूतों की आज्ञा चलती है।

विवेकशील शास्त्रों से सहमत हैं कि गुरु योग-मार्ग द्वारा शिष्य के शरीर में प्रवेश करके, ज्ञान दृष्टि से जो ज्ञानवती दीक्षा देते हैं वही 'शक्ति' कही गयी है। क्रियावती दीक्षा को 'मन्त्री' दीक्षा कहते हैं। शक्ति पात के अनुसार शिष्य गुरु के अनुग्रह का भाजन होता है। जिस शिष्य में गुरु की शक्ति का पात नहीं हुआ, उसमें शुद्धि (संस्कार) नहीं आती है, तथा उसमें न तो विद्या, न शिवाचार, न मुक्ति और न सिद्धियाँ ही होती हैं। चैतन्य-बोध (स्व-स्वरूप ज्ञान) और परमानन्द (परम शान्ति) की प्राप्ति ही शक्ति पात का लक्षण है। क्योंकि वह परम शक्ति (अनन्य-शक्ति) ज्ञान बोध एवं आनन्द को देने वाली साक्षात् मुक्ति भी होती है। शिष्याचरण जबतक परिपक्व नहीं होता है—तबतक आनन्द और बोध प्राप्त नहीं हो सकता है। और आनन्द

तथा बोध का लक्षण है—अन्तःकरण में सात्विक विचा
जैसे पत्थर को तराश कर कारीगर जब मूर्ति बना देता
तो उसकी पूजा होती है। जितने देवालय आदि हैं, स
इसी के प्रतीक (चिन्ह) हैं—उनकी पूजा, अर्चना यद्यपि प्र
कोपासना है, तथापि जिज्ञासु इससे पवित्र मानस-धार
का शिवाचार गृहण कर सकता है। परन्तु ये ध्यान रहे
पत्थर तब पूजा के योग्य बनता है, जब कारीगर के कुश
हाथों में स्वयं को समर्पित करता है। तब संसार में पू
होती है। इसी प्रकार शिष्य जो पूजा के योग्य होने
जिज्ञासु है—अपने आप को श्री गुरुदेव के चरणों में समर्पि
करदे। सब कुछ उसकी रज़ा पर छोड़दे, इसी में कल्याण है
इस मार्ग के जिज्ञासु आत्म-बन्धुओ हमेशा याद रखो :—

दोष दृष्टि सपने नहीं आने।
हरि हर ब्रह्म गङ्ग रवि जाने॥

गुरु मूर्ति को हिय में ध्याना।
धारे जो चाहे कल्याणा॥

गुरु के ग्रह सेवक जो रहे।
गुरु की आज्ञा मनमें सहे॥

आपध को करि कछु ना जनावें।
हर हर नाम रिदे सद् ध्यावें॥

मन बेचे सतगुरु के पास ।
तिस सेवक के कारज रास ॥

× × ×

दोहा:—चार खान में भरमता, कबहूँ न पाता पार ।
सो तो पैंडा मुक गया, सतगुरु के दरबार ॥

बाबा फरीद, स्वामी विवेकानन्द की ओर यदि देखा जाये तो यही निश्चय होता है । उदाहरण—कथानक कुछ इस तरह है । बाबा फरीद ने तपस्या की, किन्तु जब लक्ष्य हासिल नहीं हुआ तो किसी महापुरुष ने बताया कि किसी पूर्ण, समर्थ गुरुदेव की शरण जावें, तब आपको अपनी मंजिल मिल जावेगी । बाबा फरीद लग्न एवं जिज्ञासा लेकर गुरुदेव की खोज में निकले । जो हृदय से खोज करने निकलता है, उसे लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य होती है । पूर्ण पात्र को परस्पर सभी खोजते हैं, पाने की लालसा रखते हैं और अन्त में पाते हैं । उन्हें भी एक योगीराज, तत्ववेत्ता महापुरुष मिले । बाबा फरीद ने दिल से (मन, वचन, काया से) उनका दामन थामा और श्री चरणों में निवेदन किया कि मुझे श्री चरणों में स्थान मिले—सेवा प्रदान करें । महापुरुष बोले—हमें आचरणवान् (चरित्रवान) सुपात्रों की लालसा सताती है । किन्तु 'सब ते सेवक धर्म कठोरा'...सेवक बनना तो सुगम है, परन्तु पूर्ण ध्येय तक निभा पाना अधिक कठिन है । रामायण में आता है—

सेवक हित साहिब सेवकाई।
करे सकल सुख लोभ बिहाई॥
भानु पीठ सेइये उर आगी।
स्वामी सेइये सब छल त्यागी॥

भाई गुरुदास जी कहते हैं :—

मुरदा होइ मुरीद न गली होवणा।
सबर सिदर शहीद भरम भौ खोवणा॥
गोला गुल खरीद कारे जोवणा।
न तिस भुख न नींद न खाण सोवणा॥
पीहण होहिं जदीद पाणी ढोवणा।
पखे दी तागीद पग मल धोवणा॥
सेवक होइ संजीद न हसणा रोवणा।
दर दरवेश रशीद पिरम रस भोवणा॥

× × ×

गुरुदेव बोले—यह मार्ग कठिन है। बाबा फरीद ने उत्तर दिया—आपकी कृपा से कठिन भी सुगम हो जावेगा। कोई सेवा प्रदान करें। गुरुदेव बोले—प्रातः हम स्नान करते हैं, प्रतिदिन नदी का जल भर लाओ। फरीद बोले—सत्य वचन। प्रतिदिन रात्रि सोते समय एक अग्नि का धूना बना रखे। सरदी के दिन थे। प्रातः जल भरकर गरम करके स्नान करावे। कुछ समय इसी प्रकार बीता तो गुरुदेव ने सोचा शिष्य के आचरण की परीक्षा होनी चाहिए। गांव में संदेशा

भेजा कि रात्रि को कोई अग्नि न जलाए। सारा गाँव ही श्रद्धालु एव आज्ञाकारी था,–वैसा ही किया गया—कहीं भी रात्रि को आग न जलायी गई। और फरीद जो रात्रि को धूना जलाता था, उसे रात्रि को ही जल डालकर ठंडा कर दिया। उधर प्रातः फरीद भागा-भागा जल लाया। जल गरम करने के लिए रखने लगा तो देखा धूने में अग्नि नहीं थी। फिर गांव की ओर भागा। कहीं भी अग्नि नहीं थी। बड़ा ही परेशान हो गया कि सेवा में क्षति न आ जावे। आग के लिये दौड़-धूप करने लगा।

गांव के बाहर एक वेश्या का मकान था, वहां दीपक जल रहा था। उधर भागा। दूर से आवाज लगायी—माता जी दरवाजा खोलो। वेश्या ने विचार किया, जो दूर से माता जी चिल्लाता आ रहा है मेरे गाँव का तो यह है नहीं। वह किसी और आशा में जाग रही थी। आशा पूरी होवे तो लोभ बढ़ता है, आशा पूरी न हो तो क्रोध बढ़ता है। बार-बार फरीद ने कहा—माता जी, किवाड़ खोलो। अपनी आशा पूरी न होती देख, क्रोधित होकर बोली—क्यों व्यर्थ चिल्ला रहा है, नहीं खोलती। तीसरी बार करुण पुकार से कहा—माता जी, विशेष कार्य है, दरवाजा खोलो। वेश्या बोली, क्या कार्य है ? बाबा फरीद ने कहा—दीपक जल रहा है, मुझे अग्नि चाहिए। सरदी के दिन हैं, गुरु जी को स्नान कराना है ? जल गरम करना है। तब वेश्या बोली—एक आँख निकाल कर दो तो आग मिलेगी। "बेशक तू आंख निकाल ले, परन्तु

जल्दी ही मेरे को आग दे—विलम्ब न कर। समय पर गुरु को स्नान कराना है।" फरीद ने कहा।

काम-क्रोध के आवेश में आयी हुई वह वेश्या लोहे सुआ निकाल लायी और उससे फरीद की आंख फोड़ दी। र बहने लगा। फरीद ने सिर की दस्तार उतारी, उसकी प बाँधी और अग्नि लेकर कुटिया की ओर भागा। शीघ्रता जल गरम करके श्री चरणों में निवेदन किया—गुरुदेव स्ना करें, जल तैयार है।

श्री गुरुदेव अन्तर्यामी (पूर्ण गुरु) थे, सब जानते थे।री लीला ही परीक्षा के लिए अपनी रचाई हुई थी स्नान करते समय गुरुदेव जी बोले—फरीद आंख पर पट्टी क्यों बांध रखी है? फरीद बोला—आंख चली गयी है गुरुदेव ने गद्‌गद् हृदय से अपना करुण हाथ उसकी आँख प रखा और ऐसा कहा—फरीद आँख तो गई नहीं, आयी है पट्टी खोलो। पट्टी खुलते ही देखा कि आंख ठीक थी। अन्तर्ज्योति का प्रकाश मिल गया; दिव्य दृष्टि मिल गयी, वह दृष्टि जो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को प्रदान की थी। परीक्षा में सफलता हुई कि उधर बाबा फरीद की पूजा होने लगी। उनकी बावन नाम की वाणी तथा कथा लोग श्रद्धा से सुनते हैं। विचारवान मनन करें—

दोहा—सेवा फल मांगे नहीं, सेव करे दिन रात।
कहें कबीर ता दास पर, काल करे नहिं घात॥

और

फल कारण सेवा करे, तजे न मन से काम।
कहैं कबीर सेवक नहीं, चहे चौगुणा दाम।।

एवं

स्वामी ते सेवक बड़ो, चारों युग प्रमाण।
सेतु बांध रघुवर बढ़े, कूद गयो हनुमान।।

सेवा और किसी गर्ज के लिए—वह सेवा नहीं तिजारत है। सेवक वह है जो अपनी कोई इच्छा न रखता हुआ, मालिक की रजा में राजी रहे। आवश्यकता इस बात की है कि हमारी क्रियाशील भावना पूरी तौर पर सदाचारी होनी चाहिए। "आचार उत्तम धन है, आचार श्रेष्ठ विद्या है और आचार ही परमगति है। आचारहीन पुरुष संसार में निन्दित होता है और परलोक में भी सुख नहीं पाता। इसलिए सबको आचारवान् होना चाहिए।"*

'आप गंवाइये तौं शौह पाइये और कैसी चतुराई।'

× × ×

जो तूँ चाहे कि हो भगवान की मुझ पर नज़र पहिले।
तो उनके प्रेमियों की खाके-पा से कर गुज़र पहिले।।

---

*आचारः परमो धर्म आचारः परम धनम्।
आचारः परमा विद्या, आचारः परमा गतिः
आचारहीनः पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
परत्र च सुखी न स्यात्तस्मादाचारवान् भवेत्।।
—शि० पु० वा० सं० उ० ख० ।। १४।५५-५६।।

तरीका है अजब इस प्रेम की मंज़िल पे चलने का।
कदम पीछे गुजरते हैं गुजर जाता है सर पहिले ॥

× × ×

गर तूं मर जाये तो जीने का मजा आये तुझे।
ज़हर गर पीवे तो अमृत का मजा आये तुझे ॥

ज़हर गर पीवे तूं शिवजी की तरह ऐ जाने-मन,
काल का भी काल बनने का मजा आये तुझे ॥

ज़हर गर मीरां ने पी तो हो गयी मीरां अमर।
खाल गर खिचवाये तो शमसी मजा आये तुझे ॥

गर तुझे मंजूर है, मन्सूर सा लेना मजा,
दार पर चढ़जा नज़र शक्ले खुदा आये तुझे ॥

इसलिए कबीर साहिब जी कहते हैं—

गुरु भक्ति अति कठिन है, ज्यों खांडे की धार।
जो डगमगे सो गिर पड़े, चढ़े सो उतरे पार ॥

तीर्थ मिले तो एक फल, संत मिले फल चार।
श्री सतगुरु मिले अनेक फल, कहित कबीर विचार ॥

प्रेम प्याला सो पिये, शीश दक्षिणा दे।
लोभी शीश न दे सके, नाम प्रेम का ले ॥

भजन

गुरु कृपा से मन पापी को पापों से हटाये जा,
गुरु सेवा से ही केवल जन्म यह सफल बनाये जा।
गुरु बिना ज्ञान का दाता नहीं कोई दूसरा जग में,
गुरु चरणों की धूल को मस्तक पर चढ़ाये जा।
जिसे खोकर तू भूला आपको, भटका फिरा दर दर,
वही अनमोल हीरा तूं गुरु चरणों में पाए जा।
तेरा दिल द्वारका मथुरा है मन यह काया,
सदा ही ज्ञान की गंगा में तू गोते लगाये जा।
तेरा निज रूप है तूं ही नहीं तेरे सिवा कोई,
निजात्म प्रेम से नैय्या किनारे पर लगाये जा॥

गुरु-मंत्र : महावाक्य

"जल में डूबते हुए लोगों के लिये मज़बूत नौका के समान इस भयंकर संसार-सागर में गोते खाने वालों के लिए ब्रह्मवेला, शान्तचित्त संतजन ही एकमात्र सहारा है।"[1] महान संचित कर्मों से एवं ईश्वर की दया हो जाने पर ही ऐसे संतजन (महापुरुष) का आसरा हासिल होता है। अन्य जीवधारियों से तुलना करने पर हमें यह महसूस होता है कि मानव-जीवन के लिए पूरी तरह फूलने-फलने और आत्म-विकास करने का एक उचित समय है।

"दो कोस भी चलता है आदमी अगर।
पूछ लेता है वह भी रुक रुक कर॥
प्रभु के प्यार का है रास्ता कठिन।
है अफ़सोस कि तूं चला है बे रहबर॥
कहां राही, किधर रस्ता, कहां रहबर।
इस तरह भी कोई पहुँचा मंजिले-मकसूद पर॥

ईश्वर ने हमें जो यह आज्ञा दी है—"तुम पूर्ण बनो, जैसा कि मैं हूँ" अर्थहीन नहीं है। उसके समान विकास

---

१. निमज्ज्योन्मज्जता घोरे भावाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढ़ेवाप्सु मज्जताम्॥
(श्रीमद्भागवत—११।२६।३२)

करने की, विकसित होने की (स्व-स्वरूप-ज्ञान) की महान शक्ति हम में भी है। यह बात अक्षरशः सत्य है। हमारा आशय केवल आत्मा की उन उन्नत अभिलाषाओं (चैतन्य-बोध) से है जो हमारे आदर्श को उठाने में सहायक होती हैं। उन परम-आकांक्षाओं (कामनाओं) से है जो भावनाओं के दोष से रहित (निर्विकार) हैं। उन अखण्ड आकांक्षाओं से हैं, जो हमें पूर्णता पर पहुंचाने में—आत्म-विकास करने में मददगार होती हैं। क्या आपको बोध नहीं है कि हमारी परम अभिलाषाओं के पीछे ऐश्वर्य—ईश्वरत्व छिपा हुआ है? विवेकशील जानते हैं कि

कुम्भे बद्धा जल रहे, जल विनु कुंभ न होय।
ज्ञान का बद्धा मन रहे, गुरु विन ज्ञान न होय ॥

वस्तु कहीं, ढूंढ़े कहीं, केहि विधि आवे हाथ।
कहें कबीर तब पाइये, जब भेदी लीजे साथ ॥

भेदी लीना साथ में, दीनी वस्तु लखाय।
कोटि जन्म का पंथ था पल में पहुँचा आय ॥

सार यह कि सद्गुरु के प्राप्त किये बगैर कुछ हासिल नहीं होता है। संसार में परिश्रम किसी का व्यर्थ नहीं जाता है। हमारा विवेक हमें स्वयं उत्तर देगा कि हमारी विचार-शक्ति में कितना बल है, कितना दृढ़-आग्रह है। विवेकवान हृदय से पवित्र होते हैं, उनकी पवित्रता विचार-शक्ति में प्रबल प्रवाह पैदा कर देती है। उनके दर्शन से लोगों में नव-जीवन का संचार होने लगता है। दुनियां ऐसे महापुरुषों के

लिए नत-मस्तिष्क, राहों में पलकें बिछा देती है। संसार मे वे प्रकाश-फैलाते हैं, संसार का संचालन करते हैं—उनके शब्दों से संसार में बड़े-बड़े कार्य हो जाते हैं।

आप संसार में रहें किन्तु इसके होकर न रहें। आसक्ति-हीन हृदय ही शक्तिशाली होते हैं। "इस माया से कौन तरता है ? केवल वही धन्य हृदय—जो सब संगों का परित्याग करता है, जो महानुभावों की सेवा करता है और जो ममता-रहित होता है।"[1] हम तो यहाँ तक कहते हैं कि संत-सेवी साधक को अपने बल, साहस, एवं प्रयत्न से तैरना (भव-सागर में) ही नहीं पड़ता, वह तो संत (आचार्य) महानुभावों के हवारूपी सुदृढ़ जहाज पर सवार होकर अनायास ही तर जाता है। सत्य ही कहा है—

"माया, मोह-नदी जल, जीव बहे सारे !
नाम-जहाज बिठाकर, गुरु पल में तारे !!

लोहे के कणों को चाहे दूर रखो पर चुम्बक के लेशमात्र स्पर्श से वह उसमें चिपक जाते हैं। इसी प्रकार गुरु-प्रेमी, अनन्य सेवक श्री गुरु द्वारा बताए गुरु-मंत्र का शुद्ध-चित्त चिन्तन, मनन करके शरणागति पा जाते हैं। शरणागति को मुक्ति अवश्य मिलती है क्योंकि उसे अभय-दान मिल जाता है। मंत्र कोई ऐसा विशेष शब्द, पवित्र वाक्य अथवा स्वयं

---

१. कस्तरति कस्तरति मायाम् ? यः सङ्गास्त्यजति,
यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति ॥ ४६ ॥
(भक्ति-सूत्र-देवर्षि नारद)

सत्-स्वरूप होता है, जिसे श्री गुरु शिष्य के जप और मनन के लिए चुनता है। जैसे दूध को बिलोकर उसका सारा मक्खन निकाल लिया जाता है, वैसे श्री गुरु तत्व-बोध चिन्तामणि स्वरूप इस महावाक्य का चुनाव करते हैं। यह गुरु-वाक्य-शिष्य समुदाय को साक्षात् मुक्तिदायक एवं अमरत्व प्रदान करने वाला होता है।

ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि यह मंत्र ध्वनि मात्र है। यह ध्वनि मात्र नहीं, वरन् स्वयं परमार्थ-तत्व (ईश्वर) है, और वे हमारे ही भीतर स्थित हैं। जितना हम जिस कामना को दोहराते हैं, वह मानस पटल पर स्व-स्वरूप हो जाती है। मंत्र पाकर यदि उसका सदुपयोग नहीं किया गया तो जान लो व्यर्थ विकारों का समूहमात्र हो तुम। यहाँ संशय और संदेह का स्थान नहीं है। कोई भी बुद्धिमान आदि शक्ति पर संदेह करके आत्म-मोह का दोष ग्रहण नहीं करना चाहेगा। शंका और संदेह हमारी मन की एकाग्रता में बाधक होते हैं, जो हमारी कार्यकारिणी शक्ति का रहस्य हैं। आत्म-विश्वास, आत्म-श्रद्धा किसी भी कार्य का मूल है। विश्वास से ही हम अपनी शक्ति को दूना कर लेते हैं और अपनी योग्यता को बढ़ा लेते हैं। अतः फिर दोहराते हैं—"मनो-निग्रह कीजिये। माना मन चंचल है, यह माया का आवरण है, इसे हटाना होगा। यह विश्वास और आत्म समर्पण द्वारा ही सम्भव है। तुम्हें अपने आपकी दिव्यता (चैतन्य-स्वरूप चिदानंद) के दर्शन करने की उत्कट लालसा है, तो महावाक्य पर विश्वास

करो। तुम्हारी अनन्य भक्ति, विश्वास, प्रेम ही तुम्हें तुम्हारे अन्दर साक्षी रूप ईश्वर से एकीभाव करा देगा।"

प्रेम हृदय में हो तो श्रद्धा एवं हृदय का विश्वास स्व उपासना का रूप धारण कर लेते हैं। विश्वास ही वह वस है, जो हमारे हृदय-कपाटों को खोल देती है। 'गुरु-साक्षा पारब्रह्म हैं'—श्रुतियों का कथन है। यह क्यों मान लिय जाये ? अनुभव करने से पहिले शंका त्यागनी होगी औ अपने विवेक से काम लेते हुए अटूट श्रद्धा, प्रबल-विश्वास, अचल प्रेम उत्पन्न करना होगा। 'प्रेम ही परमेश्वर है।'

वस्तुत्तः अन्तकरणः का चैतन्य आभास क्या वस्तु है ? प्रेम से संसार को प्रेम-स्वरूप देखिये तो तुम्हारा अटूट संयम एवं विश्वास ही दिखाई देता है। विश्वास ही वह चीज है, जो अनन्त से हमें मिला देती है, जिससे अनन्त-शक्ति, अनन्त-ज्ञान और अनन्त-दर्शनों का हमें अनुभव होने लगता है। हमारी अन्तर्दृष्टि ही हमें उच्च या साधारण बनाने वाली है। इसीलिए तो मनुष्य-योनी सर्वोत्तम कही गयी है। आज भी भारत में आध्यात्मिक दृष्टि से ५० प्रतिशत मानव गुरु-आश्रय से वंचित हैं, जिन्होंने अभी तक कोई आध्यात्मिक-गुरु नहीं चुना है। तो स्वयं सोचिए उन्हें लक्ष्य का पता कैसे चलेगा। इसकी गहराई में यदि डूबा जाए तो यही निष्कर्ष हाथ आता है कि हम आस्थावान् नहीं हैं। आस्था एक सद्ज्ञान है एवं आध्यात्मिक कार्य शक्ति है। जिसे श्रीगुरु-दीक्षा से महावाक्य की प्राप्ति हो चुकी है—वह धन्य है।

शनैः शनैः वह ईश्वर का दर्शन अवश्य करेंगे। और जो महा-वाक्य जैसे आदि शक्ति का प्रमादवश चिन्तन, मनन नहीं करते हैं. वह अभी सोये हुए हैं और दुर्बल हृदय हैं।

गुरु मंत्र वेदान्त का निचोड़ होता है और श्रीगुरु की अपनी तपस्या का पुण्यांश होता है। यही एक माध्यम है, जिसके द्वारा गुरु शिष्य को ऐश्वर्य, अनन्त विभूति का अधि-कारी बनाता है। महावाक्य की लम्बाई, या छोटापन इत्यादि गौण वस्तुएं हैं—इन पर तर्क मत करो, समय व्यर्थ मत गँवाओ। जिसे हृदय में महावाक्य-मंत्र जैसा कुबेर का खजाना मिल गया हो, उसे कांच के टुकड़ों के पीछे दौड़कर समय गंवाना अपनी मूर्खता एवं अज्ञानता का प्रदर्शन करना है। श्रुतियों, पुराणों, वेदों को हमारे प्राचीन आचार्यों ने चैतन्य-मुक्ता स्वरूप ज्ञान-भंडार मानते हुए साधना की है, मनन किया है। तब कहीं जाकर "ॐ" 'तत्वमसि', 'सोऽहम', 'शिवोऽहम्' 'अहंब्रह्मास्मि' जैसे महावाक्यों को शिष्यों के कल्याण हेतु प्रकाश में ला पाये हैं।

गुरु महावाक्य हमेशा सहायक होता है, जो गुरु की आदि, चिर-शाश्वत सत्ता का मान करता है। विवेकवान इसी का चिन्तन करके सभी कुछ पा जाते हैं।

आव की हस्ती में जुम्बिश बुलबुले की कुछ नहीं।
यह नमूदी है तमाशा हरकते मौजे-हवा ॥

बुलबुला सिवा पानी के कुछ और है ही नहीं। बुलबुले का अपना आप पानी ही है। इसी तरह एक ही तत्व

(महावाक्य) है जो सबका अपना आप है, सिवा उसके और कुछ नहीं। नुक्ता छोटा-सा है पर समझ में आ जाये तं में सब बात समाप्त हो जाती है। बस अपने अ दर्शन ही महान पुरुषों के उपदेश का फल है:—

जिन्दगी क्या है फरेबे आशिकी खाने का नाम।
आशिकी है बन्द करके आंख लुट जाने का नाम॥

महावाक्य (गुरु-मंत्र) कभी किसी का शत्रु नहीं है। यह मंत्र कभी सुप्त (निष्क्रिय) नहीं रहता है, ह जाग्रत (चैतन्य-क्रियाशील) रहता है। यह सदा सु सिद्ध अथवा साध्य ही रहेगा। सिद्ध-गुरु के उपदेश से हुआ मंत्र सुसिद्ध कहलाता है। प्रसिद्ध गुरु द्वारा प्राप्त को सिद्ध कहा गया है। जो मंत्र केवल परम्परागत हुआ है, किसी गुरु के उपदेश से नहीं मिला है, वह साध्य कहलाता है। देश-काल-निमित्त का ध्यान रखते शिष्य-कल्याण का इच्छुक यथासम्भव शम् (मनोनिग्र दम [इन्द्रिय-संयम], यम [ध्यानस्थ], अहिंसा एवं क्षमा पालन करता रहे। यह किये बगैर महावाक्य की शक्ति मान नहीं हो सकता है।

दोहा—नहाये धोये क्या भया, जो मन-मैल न जाय
मीन सदा जल में रहे, धोये वास न जाय॥
—कबीर

अब विचारवान महावाक्य-जप के बारे में पुराणों कर्मकाण्ड की सूक्ष्मता से विवेचन सुनें। शिव पुराण कर्मकाण्ड पहलू पर विशेष प्रकाश डाला गया है, जिज्ञासु

पावन ग्रन्थ से यथोचित लाभ उठा सकते हैं, जैसे कि मुनि वशिष्ठ का 'योगवासिष्ठ' परम हितकारी है। हम तो यहां इतना ही कहेंगे—पुराणों में जितनी विधि-प्रणालियां कर्मकाण्ड के लिए बतलायी गयी हैं, वह हृदय को निर्मल बनाती हैं और आचरण को शुद्ध बनाती हैं। यही प्रतीक उपासना की ओर लक्ष्य है। गुरु के चित्र की यथाविधि पूजा-अर्चना भी प्रतीकोपासना है। पवित्र हृदय ही अपने लक्ष्य परमतत्व को पाते हैं। अतः आज्ञाहीन, क्रियाहीन एवं श्रद्धाहीन और विधि के पालनार्थ आवश्यक दक्षिणा से हीन जो गुरु मंत्र का जप किया जाता है, वह सदा निष्फल होता है। जप-मंत्र आज्ञा-सिद्ध, क्रिया-सिद्ध, और श्रद्धा-सिद्ध होने के साथ दक्षिणा से युक्त होना चाहिए। दक्षिणा के स्वरूप में देने योग्य सेवा से बढ़कर कोई और वस्तु नहीं है। शिष्य को चाहिए कि यथा-शक्ति तत्ववेत्ता, जपशील, सद्‌गुण सम्पन्न, ध्यानोपरायण गुरु की सेवा में हृदय के प्रेम सहित उपस्थित हो।

पुराणों, श्रुतियों, इतिहासों में जप के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। जप वाचिक, उपांशु, मानस, सगर्भ एवं समाधिस्थ आदि पांच प्रकार का होता है। इसमें मानस-जप उत्तम, उपांशु मध्यम तथा वाचिक जप सबसे निम्नकोटि का शास्त्रों ने माना है। ऐसा ही मत आगमार्थ-विशारदों का भी है। जो जप ऊँचे-नीचे स्वर से युक्त, स्पष्ट और अस्पष्ट पदों एवं अक्षरों के साथ मंत्र का वाणी द्वारा उच्चारण किया जाता है वह "वाचिक जप" कहलाता है। जिस जप में केवल मात्र

जिह्वा हिलती है अथवा बहुत धीमे स्वर से अक्षरों का उच्चारण होता है और जो दूसरों के कान में सुनायी नहीं देता है—ऐसे जप को 'उपांशु' कहते हैं। जिस जप में अक्षर-पंक्ति का, एक वर्ण से दूसरे वर्ण का, एक पद से दूसरे पद का, तथा शब्द और अर्थ का मन द्वारा चिन्तन होता है—वह 'मानस-जप' कहलाता है। योग मार्ग में लगे हुए प्राणायाम पूर्वक जो जप होता है, वह 'सगर्भ-जप' कहलाता है। सगर्भ-जप की अपेक्षा भी ध्यान सहित जो जप किया जाता है, वह समाधिस्थ-जप कहलाता है। जप का क्या और कितना महत्व है, सिर्फ इतना, जितना शक्ति संचय और शक्ति ह्रास में तादात्म्य है। शक्ति का संचय करना चाहिए, तभी पूर्ण परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है। प्रायः सद्गुरु श्री हरमिलाप साहिब जी, सच्ची सरकार स्वयं अन्तर्मुख रहा करते थे। आपका उपदेश भी सेवकों को अन्तर्मुखी जाप [अजपा-जप] का ही था। जैसे श्री शंकर भगवान ने श्री पार्वती जी को राजयोग का जप बतलाया—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत पुनः।
हंस हंसेति मन्त्रोयं जीवो जपति सर्वदा॥

गुरु वाक्याच्छुषुम्ना विपरीतो भवेज्जपः।
सोहं सोऽहमिति प्राप्तो मन्त्रयोगः सउच्यते॥

भाव—हकार से बाहर, सकार से अन्दर हंस-हंस सब जीव जाप करते हैं। गुरु के शब्द से सुषुम्ना नाड़ी में उलटा होकर हंस की जगह 'सोऽहम्' हो जाता है, इसे मंत्रयोग कहते

हैं। सत् श्री हरमिलाप साहिब जी स्वयं भी निरन्तर यही जप करते थे। यत्र जिज्ञासुओं को भी यही उपदेश देते थे। साथ ही हठयोग, प्राणायामादि, स्वरोदय-ज्ञान तथा वेदान्त-निष्ठा में भी सर्वगुण सम्पन्न थे।

जपों का माध्यम विभिन्न प्रकार से पुराणों, शास्त्रों से प्रकाश पाया है। अगुली एवं अंगूठे द्वारा, रेखाओं द्वारा, तथा पुत्रजीव (जियापोता) की शंख के मनकों की, मूँगे, स्फटिक मणि, मोतियों, सुवर्ण मनकों, पद्माक्ष, कुश की गांठ तथा रुद्राक्ष से बनी कई प्रकार की मालाओं द्वारा जप की गणना की जाती है और उनका फल भी अपनायी गयी प्रणाली पर आधारित है।

अभी बताया गया है कि मालायें भी कई प्रकार की मिलती हैं। क्रियासिद्धि की दृष्टि से एक सौ आठ दानों की माला सर्वोत्तम मानी गयी है। सौ दानों की उत्तम और पचास दानों की माला मध्यम है। ५४ दानों की माला मनोहारिणी एवं श्रेष्ठ कही गयी है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कोई भी माध्यम अपनाओ और जप द्वारा हृदय को निर्मल बनाओ। जप किसी को दिखाना नहीं चाहिए। शक्ति-संचय करना ही ध्येय होना चाहिए। उसके प्रकाश की स्वयं कामना करना, शक्ति-पतन कहलाता है। उदारचित्त एवं गम्भीर होना ही इस शक्ति-संचय का प्रथम चरण है। शक्ति को प्रकाश में लाने की कोशिश नहीं की जाती, शक्ति तो स्वयं प्रकाशवान् होती है।

कभी कभी स्थान का प्रश्न भी खड़ा होता है कि जप किस स्थान में किया जावे। स्थानों में कोई दोष नहीं है, दोष हमारी चित्तवृत्ति का होता है। स्थान के बारे में हम इतना ही कहते हैं कि जप के लिए स्थान वह चुनना चाहिए जहां उदारता, अहिंसा, एकाग्रता एवं गम्भीरता (शम्, दम, यम) का वातावरण कायम हो सके। जप को पूर्वाभिमुख और उत्तराभिमुख ही करना श्रेयस्कर है, यूं तो देहधारी पश्चिमाभिमुख एवं दक्षिणाभिमुख होकर भी जप करते हैं। ऐसा शास्त्र-सम्मत है कि घर में किये हुये जप को समान या एक गुना, गौशाला में वही जप सौ गुना, पवित्र वन या उद्यान में वही जप सहस्त्रगुना, पवित्र पर्वत पर दस हजार गुना, ` के तट पर, तीर्थ-संगम पर लाख गुना और देवालयों में `टि गुना फलदायक होता है। मेरे निकट (गुरु-मूर्ति के समक्ष अथवा मानस-धारण करते हुए) दोषरहित एवं अनन्त गुना फलदायक होता है। सम्बन्ध सभी का हृदय के प्रेम एवं निर्मलता, पवित्रता से है। बिना आसन के बैठ कर, सोकर, चलते-चलते, अथवा खड़े होकर गुरु मंत्र का जाप न करे—यह अस्वस्थ फलदायक होता है। दोनों पांव फैलाकर, कुक्कुट-आसन से बैठकर, सवारी या खाट पर, अथवा चिन्ता से व्याकुल होकर 'जप' करना निषिद्ध-सम्मत है। इससे अनियमितता, असंयम-भावनायें पैदा होती हैं। इसी प्रकार गली में, अन्धेरे एवं अपवित्र स्थान पर जप नहीं करना चाहिए। यदि शक्ति हो तो इन सभी नियमों का पालन करें, और अशक्त पुरुष यथाशक्ति जप करें। गुरु-मंत्र का प्रभाव

कभी अनिष्टकारक नहीं होता है। बात स्वयं स्पष्ट है कि ध्यान, संयम, पवित्रता एवं एकाग्रता की अधिक जरूरत है, अन्य वस्तुएं सहायक एवं प्रेरक हो सकती हैं। इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ ? लक्ष्य की सिद्धि से ही हमारा कल्याण होगा—वह (प्रभु) तो सर्वत्र समान रूप से विराजमान है। रामायण कहती है—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होईहिं मैं जाना ॥

जिस प्रकार स्त्री-पति परस्पर जीवन के साथी हैं, इसी प्रकार श्रेय मार्ग में गुरु-शिष्य जीवन के साथी हैं। आप लोग शायद गुरु धारण करने का अभिप्राय: अच्छी प्रकार समझ नहीं पाते, आप क्या यही समझ सके हैं कि शायद गुरु शिष्य को किसी और सृष्टि में ले जावेंगे। महापुरुष सृष्टि नहीं, दृष्टि बदलते हैं। यह जीव वास्तव में जो कुछ है, वही रहेगा। गुरु इसको किसी नई सृष्टि में नहीं भेजेगा। केवल इसे अपने वास्तव स्वरूप का बोध करा देता है। जो शक्ति रखता हुआ अपनी शक्ति को हनुमान की तरह भूला बैठा है, वह इसे पुनः महावाक्य के द्वारा जागृत करा देता है। गुरु-कृपा से ही हमारी दबी हुई आत्मिक शक्तियां उभरती और प्रकाशमान होती है। वह गुरु महावाक्य ही है, जो मनुष्य को वास्तव में पूर्ण मनुष्य बना देता है।

विचार करना चाहिए कि हम इस संसार में किस लिये हैं और क्यों, हम क्या चाहते हैं ? यदि हमको सुख (नित्यानंद) की इच्छा है और इसी इच्छा के लिए फिर रहे हैं तो

वह सुख कहीं बाहर नहीं —हमारे अन्दर है। शास्त्र तथा महापुरुषों का कथन है, जब यह जीव स्वयं ही सुख रूप है, इसमें सब शक्तियां भरपूर हैं, परन्तु भूल और भ्रम के कारण अपने आपको कमजोर और दुर्बल बना बैठा है। वह शक्ति कब प्रगट होगी ? जब गुरुदेव की शरण में जिज्ञासापूर्वक जाकर, उनके पालन सत्संग वचनों द्वारा संशय और भ्रमों की जड़ अपने आप कट जायेगी और स्वयं ही आपके निज स्वरूप का बोध हो जावेगा। रामायण में आता है—

दोहा—भूमि जीव संकुल रहे, गये शरद ऋतु पाय।
सतगुरु मिले ते जाहि जिमि, संशय भर्म समुदाय॥

अर्थ—हे लक्ष्मण वर्षा ऋतु के अन्दर मच्छर, कीड़े, तं` आदि उत्पन्न हो गये थे। वह शरद् ऋतु आते ही इस प्रकार नाश हो गये हैं, जैसे सतगुरु के मिलाप में संशय भर्मों का नाश हो जाता है।

"वहम सी न मरज़ कोई, और मुरशिद सा तबीब।"

सूर्य उदय होने से अन्धकार नहीं रह सकता, इसी प्रकार गुरुदेव जी के दर्शन उपदेश से संशय आदि विकार दूर हो जाते हैं। 'संशयात्मा विनश्यति'—जब तक यह जीव संशय, भर्मों आदि विकारों के रोग से पीड़ित है, तब तक संसारी है, परन्तु जब गुरु की कृपा का पात्र बन गया, तब अपने स्वरूप का बोध होने में विलम्ब नहीं। परोक्ष तो पहिले भी है, अपरोक्ष साक्षात्कार होने से जन्म मरण के रोग से मुक्त हो

जावेगा। केवल महावाक्य का एक तीव्र झोंका आने भर की देर है। जिस प्रकार—

सवैया

एक समय वन में वसते मृगराज की नारन केहरि जायो।
कर पालन पाली के हाथ लगो उन लेकर छेरी के संग मिलायो॥
बिसर गये निज कुल के पराक्रम हूड़ भये हरि दंभ चरायो।
तैसे ही आतम संग शरीरा आप भुला कर जीव कहायो॥

एक बार भागते २ किसी गर्भवती शेरनी का गर्भ गिर गया। किसी कारण से आप तो वह भाग गयी, परन्तु बच्चे को वहीं छोड़ दिया। बच्चे की आंखें बन्द थी, उसने पैदा हो अपनी माता की सूरत तक नहीं देखी थी। आंखें खुलने पर दो चार दिन के अन्दर उस वन में चलने फिरने लगा। इतने में एक गडरिया भेड़ों को चराता हुआ वहां आया। उसने उस बच्चे को देखा और प्यार से उसे उन भेड़ों के रेवड़ में मिला दिया। दिन को भेड़ों के साथ उसे चराने ले जाता, और रात को वापिस उसे घर ले आता। इस प्रकार शेर का बच्चा गडरिये के हाथों पलता हुआ बड़ा हो गया। परन्तु भेड़ों के साथ रहने से उसकी खुराक वही सूखी घास-फूस रह गयी थी, तथा स्वभाव भी भेड़ों का सा हो गया था।

एक बार उस वन में कोई दूसरा शेर आ निकला। उसने देखा कि यह शेर है और भेड़ों के साथ घास चरता-फिरता है, उसने समीप जाकर उसे बुला कर कान में कुछ कहना चाहा।

परन्तु वह उसको सूरत देख कर डरा और भागने लगा।
जंगल के बादशाह ने उसे धीरज देकर ठहराया कि मुझ
भय न कर, मैं तेरा हितकारी हूँ और तुझे तेरे हित
कहूँगा। तूँ एक बार मेरी बात को सुन ले। यह सुनकर
ठहर गया। वन के शेर ने उसके कान में कहा—तू शेर
अपनी शक्ति को संभाल, यह भेड़ें तो आहार हैं, जिनके स
तूं घास-फूस खाता फिरता है। मेरी तरफ देख—मैं ते
हमजिन्स हूं। डरपोक बना हुआ क्यों अपना आप भूल बै
है। हम दोनों एक ही रूप के हैं। अपनी असलियत की अ
ध्यान दे, और अपनी शक्ति से काम ले, इन भेड़ों के सा
तेरा क्या सम्बन्ध है ?

यद्यपि यह सब सच्ची बातें थीं और यथार्थ उपदेश थ
परन्तु भेड़ों की संगति ने उसके हृदय पर पूर्ण प्रभाव जम
रक्खा था। उसने उत्तर दिया—न मैं शेर हूँ और न शेरों क
हमजिन्स हूं। मैं तो भेड़ हूं। भेड़ें ही मेरी माता-पिता, भाई
बन्धु हैं। मैं नहीं जानता कि शेर कैसे होते हैं। तुम ज
कह रहे हो, सब भरमाने वाली बातें हैं। मेरे कुटुम्ब से
अलग करके न मालूम तुम मुझे कहां ले जाना चाहते हो।

वन के राजा ने सोचा—यह दुर्बल हृदय हो गया है।
किसी युक्ति (प्रमाण) से काम लेना चाहिए। यह सोच कर
उसने कहा—तूं मेरे साथ तालाब के किनारे चल, वहां तेरे
सब संशय दूर हो जावेंगे। यह कह कर उसने उसको अपने
साथ लिया और समीपस्थ तालाव के किनारे पहुंचे, यहां खड़े
होकर शेर ने कहा—इस जल में अपनी सूरत को भी दे

और मेरे रूप का भी ध्यान कर। जब उसने नीचे पानी की ओर सिर झुका कर देखा तो दोनों सूरतें एक बराबर नज़र आयीं। देखते ही भर्म दूर हो गए और अपने आपको शेर समझ कर गरजने लगा। शक्ति तो पहले ही मौजूद थी, केवल संशय के कारण उसका ज्ञान नहीं था। परन्तु जब दूसरे शेर से मिलाप हुआ तो उसने युक्ति द्वारा निश्चय करा दिया कि तूं सचमुच शेर का बच्चा था। परन्तु केवल अज्ञान एवं भर्म के कारण अपने स्वरूप को भूला हुआ था।

इसी दृष्टान्त के अनुसार जीव अपने निज स्वरूप को भूल कर अनात्म पदार्थ देहादि की संगति से अपने को निर्बल मान बैठता है। श्री गुरुदेव 'तत्वमसि' महावाक्य द्वारा जब अपने स्वरूप का बोध कराते हैं तो फिर 'देहो-हम्' के स्थान पर 'शिवोऽहम्' की गर्जना करता है। निर्णय हो गया कि गुरु-वाक्य (महावाक्य) साक्षात् परमार्थ तत्व होता है।

भूलते भूलते ऐसी पड़ी,
अपना रूप नहीं कुछ नेक जाना।
ज्ञान विवेक विचार बिन भूलिया
सिंह का रूप ले भेड़ जाना॥
सिंह के सिंह जब सिंह सतगुरु मिले,
देर की आपने निकट आना।
देख तूं बूझ तूं रूप है कौन सा,
कौन से आनके नेह ठाना।

जीव से ब्रह्म है, ब्रह्म से जीव है,
नीर और शीर से मिला छाना।
कहे कबीर गुरु ज्ञान बिन भूलिया,
भूलकर वार को पार जाना॥

× × ×

हमारे गुरु मिले ब्रह्म ज्ञानी, पाई अमर निशानी।
काग पलट गुरु हंसा कीन्हें, दीन्हीं नाम निशानी।
हंसा पहुंचे सुख-सागर पर, मुक्ति भरे जहां पानी॥ हमारे…
जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
निकस्यों कुम्भ जल माँहि समायो, यह गति बिरले जानी। हमारे…
अथाह थाह सन्तन में, दरिया लहर समानी।
धीवर जाल डाल कहा करिहै, मीन पिघल भये पानी॥ हमारे…
अनुभव का ज्ञान उज्वलता की वाणी, यह है अथक कहानी।
कहे कबीर गूंगे की सेना, जिन जानी तिन मानी॥ हमारे…

× × ×

मुरशिदे कामिल का जिस दिन से सहारा मिल गया।
दूर जिसको जाना था, घर में वह प्यारा मिल गया॥

मन से

ों मन दुनियां का कहना गुरां का दर छोड़ न देवीं।
जग ने तां कहते ही रहना गुरां का दर छोड़ न देवीं॥
दुनियां तो मुसाफिर खाना, देख इसे कहीं उलझ न जाना।
द्रष्टा बन के रहना, गुरां का दर छोड़ न देवीं॥

तने हैं इस जग के प्राणी, सब की है इक अजब कहानी।
मुख से कुछ न कहना, गुरां का दर छोड़ न देवीं॥

तगुरु से तू लगन लगा ले, जीवन अपना सफल बना ले।
ह मान ले तू मेरा कहना, गुरां का दर छोड़ न देवीं॥

गुरु-भक्ति-मार्ग (१)

'गुरु-भक्ति अति कठिन है, ज्यों खांडे की धार।
जो डगमगे सो गिर पड़े, चढ़े सो उतरे पार ॥'

'कबिरा यह घर प्रेम का, खाला का घर नांहि।
शीश उतारे भूइं धरे, सो पैठें घर मांहि ॥'

प्रीति बहुत संसार में, नाना विधि की होय।
उत्तम प्रीति तो जानिये जो सद्गुरु सों होय ॥

आप अच्छी तरह समझ गये होंगे कि यह मार्ग कैसा है। इस मार्ग पर चलने वाला विवेकपूर्ण विचार करके अनुसरण करें। दास बनना सुगम है, दासत्व का निभाना कठिन है। प्रीति का लगाना और है, निभाना और है। लगाते बहुत हैं, निभाता कोई कोई है। गुरु के बिना केवल शास्त्र पढ़ने से काम, क्रोधादिकों की निवृत्ति नहीं होती, सत्पुरुष के संग से यह रास्ता तय हो जाता है, जीव अपनी मंजिल (लक्ष्य) तक पहुंच जाता है। सत्पुरुष भी प्रेम (सेवा) से प्रसन्न होते हैं। रामायण में आता है :—

सिर भर जाउँ उचित अस मोरा।
सब ते सेवक धरम कठोरा ॥

जिज्ञासु जो सेवक [शिष्य] बनने की उत्कट कामना रखते हैं, वह पहिले अपने हृदय में प्रेम-रूपी खजाने की देख

भाल करें और अन्दाज़ लगालें कि उनकी प्रेम-पूंजी उन्हें लक्ष्य तक पहुंचा सकेगी अथवा नहीं। महापुरुषों को शुभ आचार-व्यवहार युक्त उत्तम प्रीति की हमेशा चाह रहती है। उत्तम-प्रीति के लक्षण यह हैं—विवेक पूर्ण मनन करके इस मार्ग पर चले।

दोहा—उत्तम प्रीति सुदूज शशि, दिन दिन अधिक बढ़ाये।
नीच प्रीति पूर्ण शशि, घटत घटत घट जाये॥

भाव—उत्तम लक्षणों से युक्त पुरुष-परम कल्याणकारी, दूज के चन्द्रमा की तरह सूक्ष्म रूप में प्रीति करते हैं, जैसे दूज का चन्द्रमा किसी को दिखायी पड़ता है, किसी को नहीं। ऐसे ही उत्तम प्रेमी की प्रीति प्रथम किसी को दिखाई देती है, किसी को नहीं। परन्तु प्रतिदिन बढ़ते हुए पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह उत्तम जिज्ञासुओं की प्रीति में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। किन्तु मूर्खों [अज्ञानियों] की प्रीति पहले पूर्णिमा के चन्द्रमा की भांति पूर्ण [स्पष्ट-जग-ज़ाहिर] होती है और फिर घटते घटते पूर्णिमा से अमावस्या की तरह लोप हो जाती है। अतएव 'उत्तम प्रीति सो जानिये जो सतगुरु से होय'। अतः नीच, अज्ञानी, मंद-बुद्धि [दुर्बल हृदय] वाले पुरुषों की प्रीति के विषय में लिखते हैं।

"एक शहर में बड़े वीतराग, ब्रह्मनिष्ट, भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाले-महापुरुष रहते थे। जो एक समय प्रायः सांयकाल कथा-उपदेश (सत्संग) भी किया करते थे। उनके पास शहर से अच्छे-२ सत्संगी, प्रभु-प्रेमी सत् पुरुष आते थे।

उनकी चर्चा सारे नगर में फैल गयी। जिज्ञासुओं की संख्या बढ़ती गयी। वहां एक सेठ भी सत्संग की प्रेरणा पाकर प्रवचन सुनने गया—उसका मन भी द्रवीभूत हो गया। कुछ दिनों सत्संग में शामिल होने के उपरान्त सेठ के मन में गुरु धारण कर दीक्षा लेने की जिज्ञासा पैदा हुई—और अवसर पाकर उसने प्रार्थना की—महापुरुषों ने उपदेश दे दिया। कुछ समय बीता, विचार आया कि गुरुदेव का भोजन-भोग समर्पण करूं-तो प्रार्थना की, 'हे भगवन् हमारा घर पवित्र करो।' महापुरुषों ने कहा—भिक्षा का भोजन आ जाता है, इसी में आनंद है। सेठ रोकर चरणों में गिर पड़ा कि अवश्य मेरा घर तो पवित्र करना होगा तो उन्होंने वचन दे दिया।

भोजन के रोज महात्मा जी को फूलों की बरसा करते हुए, बड़ी धूमधाम के साथ घर लाया गया। आनंद मंगल के सभी इष्ट मित्रों को सेठ ने निमन्त्रित करके, श्रीवर को भोजन-भोग सपरिवार विनम्र भाव से समर्पित किया। सबकी प्रशंसा द्वारा सेठ जी ने सगे सम्बंधियों में यश पाया। सेठ का मन बड़ा प्रसन्न हुआ, और भोजन के बाद, भावुकता में गुरुदेव से प्रार्थना की कि कम से कम छः मास आप मेरे घर पर भोजन करें। पहिले आपको भोजन करा करके पीछे हम भोजन किया करेंगे। महात्मा जी बोले—आपका प्रेम हमारे साथ कितना रहेगा? सेठ बोला—आप तो हमारे परमेश्वर हैं, आपके साथ हमारा पूर्ण प्रेम रहेगा। तब श्री गुरुदेव ने जानीजान होकर भी, ऐसे पूछा जैसे वह उत्तम प्रीति नहीं समझते हों—तुम्हारे घर जो गौ का बछड़ा है, उसमें जितना

तुम्हारा प्रेम है उतना हमारे साथ रहेगा या नहीं ? सेठ बोला, 'हरे हरे', महाराज, बछड़ा क्या वस्तु है, आपके साथ तो बहुत अधिक प्रेम रहेगा। यह सब कुछ जो मेरे पास है, सब आपका है, मेरा कुछ नहीं है। आप छः मास का निमन्त्रण अवश्य स्वीकार करें। गुरुदेव ने नहीं माना तो रोकर चरणों में गिर पड़ा। 'सन्त हृदय नवनीत समाना'—गुरुदेव ने सेठ का विशेष आग्रह देखकर चार मास का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

अब भोजन तो मान लिया गया, किन्तु प्रेम में प्रतिदिन अन्तर होता गया। जो प्रेम पहिले दिन था, वह दूसरे दिन नहीं [illegible] और जो दूसरे दिन था, वह तीसरे दिन नहीं रहा। इस[illegible] : पहिले महीने जितना प्रेम था वह दूसरे महीने में नह[illegible] शनैः शनैः प्रेम घटता गया। अन्त में सेठ ने अपनी स्त्री [illegible] कहा कि मैं प्रतिदिन अपने गुरु जी को लेने जाता हूँ। फिर भोजन खिलाकर कुटिया में स्वयं छोड़ने जाता हूँ, समय बहुत लग जाता है। दुकान के काम को बहुत देर हो जाती है। इसलिये तुम्हीं गुरु जी से कह देना कि आप स्वयं ही भोजन के समय घर आ जाया करो। आपका अपना ही घर है। स्त्री ने कहा—सत्य वचन। दूसरे दिन जब गुरु जी भोजन पर पधारे तो स्त्री ने कहे अनुसार श्री चरणों में निवेदन कर दिया। महापुरुष बोले—कोई बात नहीं, हम स्वयं ही समय पर आ जाया करेंगे। इसी प्रकार कुछ दिन स्वयं गुरु जी और घर आकर भोजन करके चले जाया करते थे; सेठ स्वयं खिलाकर फिर दुकान पर चला जाता था। एक दिन सेठ जी ने फिर धर्मपत्नी से कहा कि महाराज से कह देना

कि यदि सेठ जी कार्यवश घर न हों तो यह दासी भोजन करा देगी। स्त्री ने अगले दिन वही निवेदन कर दिया। महापुरुष बोले—कोई बात नहीं, तुम हमारी पुत्री हो भोजन कर जावेंगे।

अब तो कभी सेठ जी सत्संग में जाते और दर्शन कर आते। विशेष अपने व्यावहारिक कार्य में लगे रहते। केवल इतना नियम रह गया कि गुरुदेव जब भोजन कर जाते तो स्वयं पीछे भोजन करता था। कुछ दिन बाद सेठ जी ने कहा—यह भी अड़चन हैं। स्त्री से कहा—गुरु जी से पूछो कि सेठ जी को अन्दर बाहर जाना पड़ता है, यदि आज्ञा हो तो आपसे प्रथम ही भोजन कर लिया करें। महाराज बोले—कोई बात नहीं; हमारा बच्चा है, भोजन हमसे पूर्व ही कर लिया करें। फिर तो सेठ प्रथम ही भोजन करके दुकान पर चला जाया करे। तत्पश्चात स्त्री ने प्रार्थना की, "महाराज अपने पतिदेव के जूठे थाल में मैं भी भोजन कर लिया करूँ?" महात्मा ने कहा—अच्छी बात है, जैसे तुम्हारी इच्छा। फिर स्त्री भी पूर्व ही भोजन खाने लगी। चौका बरतन साफ करके महात्मा जी की रोटी छींके पर रख दिया करे। जब गुरु जी आवें, प्रेम से भोजन करा दिया करे। फिर महात्मा जी ने जान बूझ कर देरी से आना शुरू कर दिया। तब एक दिन स्त्री ने उनसे कहा—महाराज आप ही रोटी उठा कर खालो। महात्मा जी खुद ही भोजन उठाकर, खाकर चल दिये।

जब चार मास में एक दिन शेष रह गया, तब वह भोजन करने ही नहीं आये। दैवयोग से उसी दिन उनकी

ौ का बछड़ा खो गया। स्त्री ने दुकान पर कहला भेजा कि आज बछड़ा घर पर नहीं आया। सेठ जी उसे खोजते-२ गुरुजी की कुटिया में पहुँच गये। नमस्कार करके पूछा—महाराज हमारी गाय का बछड़ा तो यहाँ नहीं आया। उसको खोज रहा हूँ। आज वह घर नहीं आया। सन्त बोले—आज गुरुजी घर नहीं गये, उनकी खोज का तो ध्यान तुम्हें नहीं आया? सेठ बोला—'हरे! हरे! आज आप घर पर भोजन करने नहीं गये।' गुरुदेव ने कहा—हमने प्रथम ही कह दिया था कि गौ के बछड़े जितना भी प्रेम कठिनता से रहेगा। गुरु बोले—

"प्रीति प्रीति सब कोई कहें, कठिन प्रेम की रीति।
आदि अन्त पूरी निभे, तभी जानिये प्रीति।।"

निर्णय यह होता है—हम अपने स्वार्थों के दास हैं। केवल मात्र यश के इच्छुक हैं। जहाँ स्वार्थ-भावना निहित है, वहाँ अहंकार का होना स्वाभाविक है। अहंकार के रहते आत्म-समर्पण सपनों की वस्तु जानिये। जहाँ आत्म-निवेदन नहीं है वहां प्रीति का क्या सम्बन्ध? कच्चे धागों से पलंग बुनकर कोई कभी आराम की नींद नहीं ले सकता है। कई गुरुभ्रात में बातों से अधिक, हृदय से कम प्रेम दिखाते हैं। ऐसे प्रेम से किसी का कल्याण नहीं हो सकता है। क्षणिक आवेश में अपने आपको प्रेमी कहना विवेक नहीं। क्योंकि—

"जो तेरे घट प्रेम है, कह कह कि न सुनाव।
अन्तर्यामी जाने है तेरे अन्तर्गत के भाव।।"

शेर—जिन्हों का इश्क सादिक है,
वह कब फरियाद करते हैं।
लबों पे मोहरे-खामोशी,
दिलों से याद करते हैं॥

विचार कीजिये प्रेम का सम्बन्ध हृदय के साथ है, वाणी के साथ नहीं। जैसे दीपक मंदिर के भीतर जलता रहे तो प्रकाश रहता है। यदि पट के बाहर चला गया तो वायु लगने से बुझने की सम्भावना होती है। इसी प्रकार यदि प्रेम हृदय रूपी मंदिर में रहे तो ठीक रहता है, यदि वाणी-द्वारा प्रगट किया गया तो प्रेम पूर्ण रूप में रह नहीं सकेगा। एक फकीर ने कहा है—

वाजिब है सोज़े-इश्क का शोला अयाँ न हो।
जल बुझे इस तरह से कि मुतलिक धुआं न हो॥

× × ×

होइ चुप चुपाता भजन कर, किसे कूक न चांग सुणाये।
कर अवगुण ज़ाहिर आपणे, गुण करें तो रख छुपाये॥
छुपी वस्तु भले कम आंवदी, भावें पुछ भावें अज़माये,
जिवें धन प्यारा शूम नूं, तिवें नाम नूं मन वसाये॥

जिस प्रकार गरम-२ घी में पूड़ी कचौड़ी डालो, जब तक कच्ची होगी शूं शूं करती रहेगी, ज्यों-२ पकती जावेगी शूं शूं कम होती जावेगी। पूरी पक जावेगी तो शूं शूं समाप्त हो जावेगी। इसी प्रकार जो कच्चे प्रेमी हैं, वे वाणी

द्वारा अपने प्रेम को प्रकट करते रहते हैं। लोगों को अपना प्रेम दर्शाते हैं, ज्यों-ज्यों प्रेमी पकते जाते हैं, मौन हो जाते हैं। जब प्रेम की पराकाष्ठा पूर्ण रूप में परिपक्व हो जाती है, वह पूर्ण मौन साध लेते हैं। मौनं सर्वार्थ साधनम्—इसलिये प्रेम को दूज के चन्द्रमा से प्रारम्भ करें तो वह उत्तम प्रेम बढ़ते २ स्वतः ही पूर्णमाशी के प्रकाश तक पहुँच जायेगा। जो जिज्ञासु प्रेम को प्रथम ही पूर्णमाशी से आरम्भ करते हैं, वे घटते घटते अमावस्या तक पहुँच जाते हैं। प्रेम वाणी का पदार्थ नहीं है, हृदय का है।

प्रेमी अपने हाल से, आगाह क्या करें।
जो स्वास भी न ले सके, वह आह क्या करें।
पाया जो बेखुदी में मज़ा कुछ न पूछिये।
खामोश रहिये चूंव चरा कुछ न पूछिये।
मसज़िद हमारी महिवीयत और गुम बखुद निमाज़,
तफ़रीक बन्दा और खुदा कुछ न पूछिये।
हसती में इलम, इलम में हस्ती है जलवा गर,
तोहीदे हक में जिकर सिवा कुछ न पूछिये।
थे तुम हमारे पहलू में पर हाये हिजर ने,
क्या क्या हमारा हाल किया कुछ न पूछिये।
दे बैठे हैं हम जिस्मो जाँ और दिल भी यार को,
बाकी जो हमको घर में बचा कुछ न पूछिये॥

—हम इस निर्णय पर पहुँचे कि उत्ताम प्रीति वाले दूज के चांद की भांति हृदय में प्रेम रखते हैं, और नीच प्रीति

वाले प्रथम वाणी से अधिक प्रेम प्रगट करते हैं। परन्तु हृदय में प्रेम न होने के कारण वह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकते। अब उत्तम एवं नीच प्रेम की तुलना सूर्य से करते हैं—

"जैसे सूर्योदय काल में, पुरुष की छाया बड़ी लम्बी होती है, जितना सूर्य ऊपर को आता है, मध्यान्ह काल में शरीर जितनी भी छाया नहीं रहती, ऐसे खल पुरुषों की प्रीति आरम्भ काल में बहुत होती है, फिर घटते घटते घट जाती है। उत्तम पुरुषों की प्रीति दिन के दूसरे भाग की तरह होती हैं अर्थात जैसे सूर्य की छाया दोपहर के बाद बढ़ती बढ़ती शाम को बहुत बढ़ जाती है। इसी तरह उत्तम पुरुषों की ीति पहले थोड़ी होती है, पीछे बढ़ती बढ़ जाती है।"*

तस्वीरे यार आंख की पुतली में खिच गयी,
कद उनका गोया नूर के सांचे में ढल गया।

× × ×

न पूछो यह मुझसे मैं क्या देखता हूँ।
तेरी शक्ल में, मैं खुदा देखता हूँ॥
तेरी मुस्कराहट मेरी ज़िन्दगी है—
यही ज़िन्दगी खुशनुमाँ देखता हूँ॥

---

*आरम्भ गुर्वी क्षयणि क्रमेण,
लध्वीपुरा वृद्धिमतीश्च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना,
छायेव मैत्री खल सज्जनानाम्॥

समझता हूँ खुद को गुनाहगार लेकिन,
तुम्हीं एक को पारसा देखता हूँ।
भले और बुरे की हो पहिचान कैसे,
मैं हर एक को एक सा देखता हूँ।
खुशी और गम सब बराबर हैं मुझको,
मैं दोनों में तेरी रज़ा देखता हूँ।
किसी से भी नफ़रत करूँ किस तरह मैं,
मैं ग़ैरों को भी आशना देखता हूँ।
कहूँ क्या कहाँ पर है तेरा ठिकाना,
मैं हर शै में तुझको छुपा देखता हूँ।
न दो बुत-परस्ती का इल्ज़ाम मुझको,
मैं हर बुत में नूरे खुदा देखता हूँ।
बिना ज़ात तेरी है सब कुछ यह फानी,
तुम्हीं को सदा एक सा देखता हूँ॥

यही हृदय प्रेम है, उत्तम प्रीति के लक्षण हैं। प्रीति जो सत्पुरुषों की होती है, शुरूआत में सूक्ष्म प्रतीत होती है, परन्तु शनैः शनैः अपने आप में पूर्ण हो जाती है। पावन गुरुवाणी में लिखा है :—

रे मन ऐसी हरि से प्रीति कर जैसी जल कमलेह।
रे मन ऐसी हरि से प्रीति कर जैसी चातिक मेह।
रे मन ऐसी हरि से प्रीति कर जैसी मछली नीर।
रे मन ऐसी हरि से प्रीति कर जैसी जल दुध होई।
रे मन ऐसी हरि से प्रीति कर जैसी चकवी सूर॥

उत्तम प्रीति कैसी होनी चाहिए—एक सूक्ष्म में दृष्टांत रखते हैं :—

श्री गुरु हरिगोविन्द साहिब छटी पातशाही जी के साथ प्रेमी भाई हरिपाल जी ने प्रीति की है। भाई हरिपाल जी हरिगोविन्द जी के अनन्य भक्त थे, जैसे लोहा चुम्बक पत्थर के पीछे चलता है, तैसे ही सद्गुरु जी के चरणों में चित्तवृत्ति को लगा रखा था। एक दिन सद्गुरु जी शिकार को गये, वापिस लौटते समय एक भीवर रास्ते में एक तोता लिए बैठा था। तोते की मीठी २ बातें सुनकर गुरु जी प्रसन्न हुए। मनुष्यों की तरह स्पष्ट बातें करना जानता था। गुरु जी वहां खड़े हो गए और कहा विद्या तो अच्छी पढ़ा है। यह तो पशु योनि में भी मनुष्य है यह कह कर सद्गुरु जी घोड़े की बाग उठाकर आगे चल पड़े। तब भाई हरिपाल ने गुरु जी से निवेदन किया—आपकी आज्ञा हो तो यह तोता मोल ले लूं। आपके दीवान में यह पिंजरा लटकता रहेगा और मीठी २ बातें करता रहेगा। तब गुरु जी आज्ञा देकर आगे चले गये।

अब भाई हरिपाल ने तोते का मोल पूछा, तो भीवर ने कहा—मैं इसे इस तरह मोल नहीं बेचता। इसके बदले तूं अपनी बहन की शादी मेरे साथ करा दे, फिर ये तोता तुम्हें मिल सकता है। भाई जी घर गये और सारी बात अपनी माता के चरणों में रखी। सारी बात सुन कर माता ने उत्तर दिया—गुरु की सेवा से बढ़कर और कौन अच्छी वस्तु है। हमने तन-मन-धन सभी गुरु जी के चरणों में भेंट (समर्पण)

कर दिया है गुरु जी को साक्षी बना कर मैं अपनी कन्या गुरु जी की सेवा में देने को सहर्ष तैयार हूँ। बेटा तुम भी उनके अनन्य सेवक हो, इसलिए अपनी बहिन भीवर को देकर गुरु जी का कार्य सिद्ध करो। तब भाई जी अपनी बहिन को लेकर भीवर के पास गये। दुष्ट भीवर ने मौके से फायदा उठाया और भाई जी को सीधा-सादा जानकर कहा—अब तुम अपनी कन्या भी लाकर दो? श्री भाई जी ने भीवर को बहुत समझाया, परन्तु उसने हठ नहीं छोड़ी। भाई जी सद्-गुरु जी के अनन्य प्रेमी थे, इसलिये उनकी आज्ञा भंग का भय था। घर में आकर सारा वृत्तान्त अपनी स्त्री को सुनाया। उसने भी गुरु जी को साक्षी रख कर, सद्गुरु जी की सेवा के लिए अपनी कन्या दे दी। भाई जी दोनों लड़कियों को लेकर भीवर के पास गये। तब भीवर ने तोता दे दिया और दोनों कन्याओं को साथ लेकर अपने घर चला गया। भाई जी, तोता लेकर गुरु जी की तरफ चल पड़े।

उधर जब भीवर की पत्नी ने भीवर से इन दोनों लड़कियों का समाचार पूछा, सारी बात जानकर उसने अपने पति को बहुत फटकारा और धिक्कारते हुए कठोर शब्दों में कहा—तुमने बड़ा भारी पाप और अनर्थ किया है। "त्राहि-त्राहि" कहने लगी—तेरे भाग्य नष्ट हो गये हैं। वह जगत् गुरु साक्षात् ईश्वर के अवतार अन्तर्यामी, सर्वसिद्धि सम्पन्न श्री सद्गुरु जी जब यह सुनेंगे तो पता नहीं हमारे साथ कैसा व्यवहार करेंगे। तेरा मुख काला होगा। लोक तथा परलोक

में तेरा अपयश होगा। पीर-पैगम्बर, वली, औलिया किसी ने भी तेरी रक्षा नहीं करनी। जा अब भी गुरु जी के चरणों में पड़ और अपराध क्षमा करवा। इन दोनों कन्यायों के चरणों में पड़ अपराध की क्षमा मांग, प्रतिज्ञा कर कि मैं तुम दोनों को कन्या के तुल्य मान कर आजन्म सेवा एवं पूजा करूँगा। फिर किसी शिष्य के साथ गुरु जी की शरण में जाकर अपने अपराध की क्षमा मांगो। इस प्रकार जब स्त्री ने ताड़ना दी तो वह (झीवर) अपने आपको महान अपराधी जान कर भयभीत होकर, कांपता हुआ, गुरु जी की शरण में गया और गले में अंचल डाल कर अपराध की क्षमा मांगी। रोकर श्री सद्गुरु जी के चरणों में गिर पड़ा, हर प्रकार की विनती की और कहा—ये मेरी दोनों धर्म की कन्यायें हैं, मेरा अपराध क्षमा करो प्रभु दया करो।

सद्गुरु ये शब्द सुन कर मौन रहे। अभी भाई हरिपाल तोता लेकर नहीं पहुँचा था, झीवर पहले ही पहुंच गया था। इतने में भाई हरिपाल तोता लेकर आ पहुँचे और श्री चरणों में निवेदन किया, "महाराज तोता आपकी सेवा में हाजिर है।" इतने में सद्गुरु जी ने नेत्र खोले और भाई हरिपाल को अपने गले से लगा लिया। प्रेमवश नेत्रों से आँसू वह निकले—कहा—धन्य है तेरी कमायी, धन्य है तू, तेरी माता, तेरी पत्नी, धन्य है तेरी बहिन एवं कन्या। तुम्हारा सपरिवार जन्म सफल हो गया। तू ने अकरणीय को कर दिखाया है, ——— फिर कभी ऐसा नहीं करना। आज से यह दोनों हमारी

कन्यायें हुईं, जिस तरह हमारी पुत्री बीबी बीरां जी है। हम ही इनकी शादी करेंगे। सद्गुरु जी ने इनकी शादी बड़े उत्साह से अपने प्रेमी शिष्यों के घर करा दी और हरिपाल जी को वर दिया कि आज से तुम हमारे और हम तुम्हारे हो गये। फिर उस झीवर सिपाही का अपराध क्षमा किया। वह झीवर अपने परिवार सहित गुरु जी का शिष्य बन गया। उसको संसार-सागर से पार कर दिया। भाई हरिपाल जी बड़ी परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। रामायण में आता है—'सब ते सेवक धर्म कठोरा।' इसी पर शब्द गुरुवाणी का है :—

"गुरु पीरां की चाकरी महा करड़ी सुख सार।"

कहने का भाव यह है—गुरुओं की सेवा अति ही कठिन है। परन्तु मोक्षरूपी श्रेष्ठ फल देने वाली है। जो परीक्षा में उत्तीर्ण हो जावे वही आनंद का अनुभव करता है। बिना त्याग के कुछ हासिल नहीं हो सकता है।

शेर—बच्चों का नहीं खेल है यह मैदाने मुहब्बत,
आये जो यहां सर पे कफन बांध कर आये।

दोहा—जब लग मरने ते डरे, तब लग जीवन नाहिं।
बड़ी दूर है प्रेम घर, समझ लेओ मन माहिं॥

स्वामी राम कहते हैं :—

जब से सुना है मरने का नाम जिन्दगी है,
सर पे कफ़न लपेटे कातिल को ढूंढ़ते हैं।

× × ×

मुहब्बत की नहीं जाती, मुहब्बत हो ही जाती है,
यह शोला खुद भड़क उठता है, भड़काया नहीं जाता।
मुहब्बत के लिये कुछ खास दिल मख़सूस होते हैं,
यह वो नग्मा है जो हर साज़ पे गाया नहीं जाता॥

× × ×

पंजाबी में विचार :—

ऐह इश्क जिन्हादड़े पेश पिया, आशिक सुकदे सुकदे सुक गये।
रत्ती रत्त नाहीं जुसे आशिकां दे, आशिक मुकदे मुकदे मुक गये॥
दुखां आन के सुखां नू घेर लीता, सुख लुकदे लुकदे लुक गये।
अली हैदर मियां दर यार उत्ते, आशिक झुकदे झुकदे झुक गये॥

यह प्रेम सर्वोपरि है। प्रेम की पराकाष्ठा है, सादिकता है।

ऐह इशक जिन्हादड़े पेश पिया,
खेडां भुलदियाँ भुलदियाँ भुल गइयां।
मैं तां सीस गुंदाया सी नाल अत्तर,
लटां खुलदियां खुलदियां खुल गइयां॥
कज्जल पाया सी यार दे वेखणे नूं,
हँजू डुलदियां डुलदियां डुल गइयां।
बुल्लेशाह पिछे मैं फ़कीर होइयां,
हड्डियाँ रुलदियाँ रुलदियां रुल गइयां॥

× × ×

लाम लक्ष स्वरूप दी खबर होइ,
गुरु मिले तां असी निहाल होइ।

जीव भावना भनके ब्रह्म कीती,
आदि अन्त रहित हुण अकाल होइ।

सीस अपणां तिन्हा दीं भेट कीता,
गुरु-भावना देख दयाल होइ।

दृष्टि गुरां दी कीमिया रत्तन सिघा,
लगे ढिल ना कच तों लाल होइ॥

× × ×

सो उत्तम प्रीति वालों के यह लक्षण हैं। वह गुरुदेव की शरण में जाकर सर्वस्व अर्पण कर सेवा में लग जाते हैं। जब परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं तो अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। सेवा धर्म सबसे ऊँचा धर्म है। पहले कठिनाई प्रतीत होती है, पश्चात विशेष सुख का अनुभव होता है। विवेकशील विचार करें—"अत्यन्त गंदला जल भी जिस प्रकार कीचड़ के बैठ जाने पर स्वच्छ-जल मात्र रह जाता है, उसी प्रकार दोष से रहित हो जाने पर आत्मा भी स्पष्ट तथा प्रकाशित होने लगता है।"* अतएव सेवा सर्वोपरि है। जिज्ञासु ध्यान दें :—

दोहा—चलन चलन सब कोई कहे, बिरला पहुंचे कोय।
एक कनक एक कामिनी, दुर्गम घाटी दोय॥
—कबीर जी

---

* जलं पंङ्कवदत्यन्तं पङ्कापाये जलं स्फुटम्।
यथा भाति तथात्मापि दोषाभावे स्फुटप्रभः॥
विवेक-चडामणि ॥२०६॥

गुरु-भक्ति-मार्ग (२)

सेवा के साथ प्रेम शामिल हो जाये तो उपासना हो जाती है। सेवा इन्द्रियों से होती है, उपासना मन से होती है। कर्म-उपासना से ज्ञान का होना स्वाभाविक ही है। सेवा तो करनी पड़ती ही है, किन्तु जब तक हृदय से सच्चा प्रेम शामिल नहीं होता है, तब तक सेवा फलीभूत नहीं होती है। सेवा-पथ, प्रेम-पथ है। यहां अनन्य-भाव जब तक हृदय में नहीं होता, समझ लेना चाहिए कि उस उपासना में तत्व नहीं है। जिस तरह कछुआ बाह्य आक्रमण से अपने सभी अंगों का अन्दर समेट लेता है। वैसे ही सच्चे जिज्ञासु को अपने मान, अपमान, कामना, वासना सभी का त्याग करना पड़ता है। सिवा प्रेम के कुछ और सोचने मात्र से (लेशमात्र अहम्-भाव) सेवा का किया-कराया परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। गुरु-भक्ति मार्ग में जहाँ एक ओर उच्चकोटि का प्रेम, आस्था, एवं अटूट विश्वास (श्रद्धा) का होना जरूरी है, वहां दूसरी ओर 'अपनेपन का' त्याग सर्वोपरि है। मान का ध्यान रखकर, देहाभिमान का विचार रखते हुए कभी भी इस राह पर चला नहीं जा सकता है।

"इक मियां विच दो तलवारां हरगिज़ नहीं समावन।
जित्थे इश्क-हकीकी होवे, दीन दुनी भुल जावन॥"

"इसी पर एक उदाहरण लिखते हैं। एक राजा प्रतिदिन रात्रि को फूलों की शैय्या पर विश्राम करता था और साथ ब्रह्म-मुहूर्त्त में उठकर प्रभु का चिन्तन, स्मरण भी किया करता था। प्रभु सर्व अन्तर्यामी ने विचार किया— राजा फूलों की सेज पर (सुखाभिलाषा) सोता है, और मेरा स्मरण भी करता है। दोनों एक साथ कैसे चलेगें। एक दिन नारायण बलोच का स्वरूप धारण करके, रात्रि को छत पर आ गये। उस वक्त राजा फूलों की सेज पर स्मरण की तैयारी में बैठा था। पहरेदारों ने उसके पैरों की आवाज सुनकर कहा—"ऊपर कौन है? रात को छत पर क्या कर रहे हो?" भगवान ने कहा—मैं बलोच हूँ। मेरा ऊँट गुम हो गया—उसी की तलाश कर रहा हूँ। पहरेदारों ने कहा—छत पर ऊँट कहाँ? नारायण ने चेतावनी दी—"सवा मन फूलों की सेज पर खुदा कहाँ।" और अन्तरध्यान हो गये। राजा की प्रमाद एवं अज्ञान में सोयी आंखें खुली। छत पर जिधर से आवाज आ रही थी—राजा ने पहरेदारों द्वारा उस आदमी (बलोच) की तलाश करायी। किन्तु अन्तर्यामी का पता क्या? राजा के प्रश्न करने पर पहरेदारों ने सनम्र निवेदन किया—"हे राजन्! न चढ़ते देखा है, न उतरते देखा है। केवल शब्द सुना है। राजा को विश्वास हो गया कि स्वयं परमेश्वर मेरे को चेतावनी देने आये थे। परमात्मा के सिवा इन लक्षणों का अन्य किसी में पाया जाना नाममकिन है। रामायण में

बिन पग चलहिं, सुनहिं बिन काना ।
बिन कर करत कर्म विधि नाना ।।
आनन रहित सदा रस भोगी ।
बिन वाणी वक्ता बड़ जोगी ।।

हृदय लग्न जागी, वैराग्य हो गया । राजा ने रात को ही राज्य-महल त्याग दिया और जंगल की ओर निकल पड़ा। उसे स्वतः ज्ञान हो गया कि प्रभु की खोज बिना गुरु के नहीं हो सकती है । अतः गुरु की तलाश की लग्न हृदय चेतन हो गयी । आगे चलकर राजा ने देखा—एक योगीराज तत्वदर्शी महापुरुष बैठे हैं । दर्शन करते ही हृदय की कली खिल गयी। राजा ने प्रणाम-निवेदन किया और कहा—"कृपया आत्म-तत्व का उपदेश करो ।" गुरुदेव पूर्ण थे—विचार आया देखें पात्र शुद्ध है अथवा नहीं । उन्होंने पूछा—"हे महानुभाव आप कौन हैं ?" राजा ने उत्तर दिया—'मैं राजा हूँ, राज्य को त्याग कर, आत्म-तत्व के उपदेश की जिज्ञासा लेकर आया हूँ ।'

श्री गुरुदेव ने अनुमान लगाया अभी इसके हृदय में राज्य का मद शेष है । जब तक यह दूर नहीं होता है, पात्र शुद्ध नहीं हो सकता । कारण पात्र भरा हुआ (शुद्ध) हो तो उसमें कुछ और ज्यादा डालने की जरूरत नहीं होती है, केवल दिव्य-दृष्टि मात्र से पूर्णता अपने आप में व्याप्त हो जाती है। जब तक पात्र (राजा) का मद दूर नहीं होगा, तब तक 'आत्म-तत्व का सूक्ष्म उपदेश' उसमें टिक नहीं सकता है । गुरु जी ने राजा को सात वर्ष सेवा का कार्य सौंप, तदु-

परान्त उपदेश देने को कहा। राजा सात साल तक गुरु-स्थान में हर प्रकार से सेवा करता रहा—झाड़ू लगाना स्नानादि के लिए जल आदि लाना इत्यादि।

जब सात साल में एक दिन रह गया तो गुरुदेव ने पात्र की परीक्षा ली। एक भंगन को बुलाकर कहा कि प्रातःकाल राजा पर कूड़े की टोकरी डाल देना और जैसी स्थिति हो—हमें बता देना। भंगन ने कहा—सत्य वचन। प्रातःकाल उसने वैसा ही किया। राजा ने अपने ऊपर कूड़े का ढेर फिंका देख-क्रोध भरे शब्दों में भंगन को कहा—"अरी मूर्ख मुझे दुःख है—मैं फकीरी भेष में हूं। यदि मैं राज्य गद्दी पर बैठा होता तो, इस अभद्र-व्यवहार की सज़ा तुम्हें अवश्य देता।" भंगन ने सारा वृतान्त गुरु जी को सुना दिया। दूसरे दिन जब राजा श्री गुरु चरणों में पहुँचे और उपदेश के लिए प्रार्थना की। इसपर गुरुदेव ने सात बरस और सेवा की आज्ञा दी। राजा फिर सेवा में जुट गया। तन-मन से सेवा करने लगा। सेवा करते-२ सात वर्ष और बीत गये। श्री गुरुदेव ने उसी भंगन को फिर कूड़े की टोकरी फेंकने को कहा। चौदह वर्ष में एकदिन रहता था तो भंगन ने राजा पर, पहले की भांति, कूड़ा डाला। इसबार राजा ने भंगन से कुछ नहीं कहा—केवल कुपित दृष्टि से देखा, मधुर दृष्टि से नहीं देखा। इसबार भी जैसा हुआ भंगन ने गुरु जी से कह दिया। गुरुदेव पूर्ण एवं समर्थ थे। विचार किया अभी कुछ कमी है। प्रातः राजा श्री चरणों में आया और निवेदन किया कि प्रभो, अब कृपा करो, चौदह वर्ष हो गये हैं। नाम-ज्ञान

बख़शो तो गुरुदेव बोले—'राजन् अभी सात वर्ष और सेवा करो।' गुरुदेव ने अपरोक्ष रूप से शिष्य को चेतावनी 'राजन्' कहकर दे दी कि अभी 'सूक्ष्म अहम्' बाकी है—उसे सात वर्ष और सेवा, प्रेमोपासना द्वारा दूर करो। अब तो शिष्य (राजा) के धीरे धीरे ज्ञान-नेत्र खुलने लगे। सेवा में सुध-बुध भुला दी अपनी। यह सात साल भी निकल गये। जब इक्कीस वर्ष में एकदिन रहता था तो भंगन को फिर वही आज्ञा मिली ताकि शिष्य की अन्तिम परीक्षा हो जाए। "महापुरुष सृष्टि नहीं बदलते केवल दृष्टि बदलते हैं।" तीसरी बार परीक्षा में श्री गुरुदेव, राजा की 'दृष्टि' बदली है अथवा नहीं—देखना चाहते थे। रेलवे वाले इंजन या डब्बे (Compartments) एक पटरी से उठाकर दूसरी पटरी पर नहीं रखते हैं, परन्तु कांटा ही बदलते हैं। गाड़ी स्वतः ही दूसरी लाइन पर चली जाती है।

जब भंगन ने कूड़े की टोकरी इस बार फैंकी तो राजा को ज्ञान ही नहीं हुआ कि कूड़ा फैंका है या फूलों की वर्षा की है। वह मुस्करा रहे थे, नेत्रों में मस्ती थी। भंगन उन्हें देखकर मस्त हो गयी। राजा के मुख से मस्ती भरे यह शब्द निकल रहे थे:—

जग के बनाने वाले इक और जग बना दे।
जिस जग में मैं हो 'मैं हूँ' लेकिन न मुझ में मैं हो।
बन्धन से वासना से दुख सुख से जो परे हो॥
तस्वीर एक मेरी मेरे ही सामने हो।

वह मूर्ति भी मेरे चरणों में सर झुका दे ॥
जग के बनाने वाले……

आना पड़े न जाना, हंसना पड़े न रोना ।
आंखें मुंदी हुई हों न जागना न सोना ॥
दुनियां को मस्त करदे वह मेरा मस्त होना ।
मुझ से ही जगमगाये इस जग का कोना-कोना ॥
दीपक मुझे बनादे लौ को मेरी मिटा दे ।
जग के बनाने वाले……

यह शब्द श्रवण कर स्वयं मस्ती में झूमती हुई गुरु जी के पास पहुँची। गद्‌गद् वाणी से बोली—'प्रभो, वह तो बहुत ऊँची अवस्था में इस समय है। देह अधयास ही नहीं नेत्रों में इतनी मस्ती है कि मैं दर्शन कर स्वयं मस्त हो गयी। रोमाँच हो रहा है।' श्री गुरुदेव ने कहा—प्रातःकाल हम स्वयं निरीक्षण करेंगे। भंगन बोली—मेरी अन्तरात्मा कहती है—२१ वर्ष उसने (राजा) श्री चरणों में चक्कर लगाये हैं, अब तो आपको ही जाना पड़ेगा। वही बात बनी, प्रातः एक दो घण्टे प्रतीक्षा की। जब राजा नहीं आया तो गुरुदेव स्वयं वहाँ चलकर गये। शिष्य पूर्ण हो तो गुरु भी झुक जाते हैं। जब गुरुदेव वहाँ पहुँचे, वह आनन्द में गोता लगा रहा था। नेत्रों के कपाट बंद थे—अन्दर के ज्ञान-नेत्र खुले हुए थे। गुरुदेव बोले—वत्स ! आंख खोलो। राजा ने देखा गुरुदेव आ गये हैं, साष्टाँग प्रणाम की।

नेत्रों के जल से चरण धो दिये। गुरुदेव ने देखा—'केवल जाग लगानी है।'

शीर वजूद मखण विच इसरारे हक ।
पा जाग मुहब्बत दही जमावें छोड़ शक ।।
ज़िकर मधाणी जे करे रसी साह धर ।
तां निकले सिरड़ इलाही मखण सेर भर ।।

निर्णय यह है वैराग्य हृदय से होता है, तभी सेवा में प्रेम शामिल हो सकता है। हृदय में जब तक ममता-आसक्ति बनी रहेगी, तब तक साहिब का घर दूर मानिये । गुरु कामिल हो, शिष्य आमिल हो तो खुदा शामिल है। नैगेटिव पौजिटिव तारें मिल जावें तो प्रकाश स्वतः ही हो जाता है। गुरु शिष्य का मन मिल जावे तो आत्मा का अनन्त प्रकाश स्वतः ही हो जाता है । जब तक हम गुरु-भक्ति-मार्ग की परीक्षाएं उत्तीर्ण नहीं करते, तब तक लक्ष्य पर पहुंचना बहुत दूर है। किसी ने कहा है—

तेरी खूबियां गैर क्या जानता है ।
तूं जैसा है बस जी मेरा मानता है ।
मुहब्बत तेरी क्यों हुई मेरे दिल में—
तेरा दिल यही बरमला जानता है ।
तेरे प्रेम में जान जाती है जाये—
तूं ही दर्दे-दिल की दवा जानता है ।
तेरे मिलने का राज़ खुलता है उस पर,
जो अपनी खुदी को मिटा जानता है ।

तेरी मस्तियां मस्त पहिचानता है,
तूं सोये हुए को जगा जानता है।
तेरे दर पे धूनी रमाई है हमने—
तूं दुखिया को सुखिया बना जानता है।

जिसे किसी पर विजय पाने की अभिलाषा नहीं रह गयी है, उससे देवता भी डरते हैं। गुरु-भक्ति के पथ पर चलने वाले पथिक जिज्ञासु के मन में यदि सेवा का थोड़ा भी अभिमान आ जाये तो वह पथभ्रष्ट हो जाता है। सेवा जहां मानव-उत्थान और कल्याण का कारण है, वहां यदि सेवा का अभिमान आ जाये तो पतन का कारण बन जाती है। इस लिये हर समय सावधान रहे। अहंकार दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म और स्थूल। स्थूल अहंकार जो बाहर से प्रतीत होता है, उसका त्याग सुगम है। परन्तु जो सूक्ष्म अहंकार हृदय के भीतर छिपा है—त्यागना कठिन है।

जिस प्रकार एक डिब्बे में हींग पड़ी हो और यदि वह खाली करना हो तो जो हींग के मोटे डले हैं, वह तो डिब्बे को उलटने से निकल जावेंगे परन्तु जो सूक्ष्म रूप में डिब्बे के साथ चिपटे पड़े हैं—वह तो चाकू से तिरछने पर ही निकल पायेंगे। जिस प्रकार कपड़े पर ऊपर की पड़ी हुई धूल केवल झाड़ने से निकल जाती है; परन्तु जो सूक्ष्म-कण कपड़े के रेशे में धंसे पड़े हैं, वह तो गरम जल में साबुन डालकर फिर पत्थर पर कपड़े को पीटने पर ही निकलते हैं—

मोटी माया सब तजें, झीनी तजो न जाय।
पीर पैगम्बर औलिया, झीनी सबको खाय॥
दरसन को तो साधु हैं, सुमरन को ब्रह्मज्ञान।
तरने को है दीनता, डूबन को अभिमान॥

भाव यह है कि इस मार्ग पर चलने वाले जिज्ञासु के मन में कभी भी अहंकार नहीं आना चाहिए। यदि थोड़ा भी अहंभाव आ जावे तो पतन होना अवश्यम्भावी है। एक उच्चकोटि का उदाहरण पथ-प्रदर्शन के लिए रखते हैं।

एक साँई बुल्लेशाह हुए हैं, वह जाति से सैय्यद थे। जिस प्रकार हिन्दू समाज में गोस्वामी होते हैं, मुसलमानों में सैय्यद होते हैं [भाव: ऊँचे कुल में उनका जन्म होता है]। बुल्लेशाह को बचपन से ही विद्याध्ययन की लगन थी। उसने अपने ग्रन्थ [भाव: कुरान शरीफ] को भी पढ़ा और हिन्दू शास्त्र उपनिषदों का भी अध्ययन किया। परन्तु उन्हें अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई। एक दिन वह बौरा सा होकर जा रहा था। एक सज्जन ने पूछा—क्या बात है। वह बोले—सब पुस्तकें पढ़ीं परन्तु अभी तक आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ। वह सज्जन बोले—जब तक तत्ववेत्ता महापुरुष सत् गुरुदेव की शरण नहीं आओगे, तब तक आत्म-ज्ञान [अपरोक्ष-ज्ञान] नहीं हो सकता।

मिले न जब तलक मुरशिद कभी न दूर गम होवे।
हमेशा दिल जलता रहे न मरज़े वहम कम होवे॥

पढ़े पुस्तकें किताबें सब, रहे महरूम मतलब से—
ये ऐसा राह पेचीदा, न बे—रहबर खतम होवे ।

गद्गद् वाणी से बुल्लेशाह ने पूछा—महापुरुष तत्ववेत्ता की पहिचान क्या है ? और वह कहाँ मिलेंगे ? उतर मिला गुरुदेव की सुगम पहिचान यह है कि जिनके दर्शन से मन की कली खिल जावे, वही महापुरुष है और वो इसी बस्ती [अर्थात् कसूर नामक स्थान] में मिलेंगे । बुल्लेशाह के पूरा परिचय पूछने पर उत्तर मिला—यहाँ एक साँई इनायत शाह जी हैं और सब्जी लगाने का कार्य करते हैं । उनकी शरण में श्रद्धा से जावे तो आपका कार्य सम्पन्न होगा । मन में लक्ष्य प्राप्ति की लगन थी सुनते ही बुल्लेशाह बताये स्थान पर गये इनायत साईं जी उस समय पोधा एक जगह से उखाड़कर दूसरी जगह लगा रहे थे । बुल्लेशाह ने प्रणाम कर कहा—साँई जी शौहदा को पावणा ? उत्तर मिला—'इधरों पुटणा ते उधर लाँवणा ।' यह श्रवण करते ही साँई जी के चरणों में रोकर गिर पड़े । उन्होंने प्रार्थना की यदि इतना सुगम प्रभु का मिलना है तो आप कृपा करो । गुरुदेव ने देखा कि पात्र योग्य है । हृदय में जिज्ञासा है, आँखों से अश्रुधारा बह रही है । गुरुदेव का मन द्रवीभूत हो गया और अपना करुण भरा हाथ उसके सिर पर रक्खा । बुल्लेशाह के दिव्य चक्षु खुल गये घट में ज्योति का प्रकाश हो गया (परोक्ष वस्तु का अपरोक्ष साक्षात्कार हो गया) । अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर वह अति प्रसन्न हो गुरुदेव से आज्ञा लेकर अपने स्थान पर चले गये ।

एक दिन बुल्लेशाह अपने चौबारे पर अपने सैय्यद भाइयों के साथ कुर्सियों पर बैठे थे। खिड़की से नीचे देखा तो साँई इनायत शाह जी सब्जी की टोकरी लेकर गुजर रहे थे। बुल्लेशाह ने विचार किया कि गुरुदेव को प्रणाम तो करनी चाहिए। परन्तु आज मेरे इष्ट-मित्र, सैय्यद भाई बैठे हैं। यदि मैं नीचे जाकर प्रणाम करूंगा तो यह सब कहेंगे, 'सैय्यद होकर सब्जी बेचने वाले को प्रणाम कर रहा है' तो मेरा अपमान होगा। मन में जाति का अभिमान आ गया प्रमाद में गूढ़ तत्ववोध भूल गया कि—

'जाँत पाँत पूछे नहीं कोई। हरि को भजे सो हरि का होई॥'

उधर से गुरुदेव की भी दृष्टि पड़ी कि मेरा शिष्य बुल्लेशाह खड़ा है, परन्तु नमस्कार करने नहीं आया, तो वहाँ से आगे निकल गये। यही सूक्ष्म अहम् था।

प्रणाम न करने की अवज्ञा के कारण गुरुदेव के वहाँ से जाते ही, उसके अन्दर जो ज्योति का प्रकाश था—वह जाता रहा (फिर परोक्ष हो गया) वह शक्ति लुप्त हो गयी। बुल्लेशाह को महान पश्चात्ताप हुआ कि थोड़ा अभिमान हृदय में आया और मैं सब कुछ खो बैठा। इसी शोक सागर में गोते खाने लगे। फिर विचार किया, चिन्ता से क्या बनेगा? 'चिन्तन करूँ, फिक्र को छोड़कर ज़िक्र करूँ—अर्थात खोई हुई वह शक्ति जिस प्रकार से प्राप्त हो, कोई उपाय करूँ। विचार किया कि देहाभिमान जाति के अभिमान से खोई हुई वस्तु की प्राप्ति पुनः तब होगी, जब येन केन प्रकारेण इस

जाति का अभिमान दूर हो। निर्णय किया और श्री तुलसी-दास जी महाराज के पावन दोहे से ज्ञान हुआ—

तुलसी सोई चतुर नर, राम चरण लवलीन।
जाति के अभिमान में, डूबे वहुत कुलीन॥

ऐसा विचार आते ही एक वेश्या, नीच की सेवा करने को चल पड़ा। वह वेश्या संगीत एवं नृत्य में निपुण थी। निष्काम भाव से जब वेश्या की सेवा में वुल्लेशाह जुट गए तो एक दिन वेश्या ने पूछा—ऐ वुल्लेशाह आप तो ऊँची जाति के सैय्यद हो, मेरी सेवा किस भाव से करते हो ? आपकी दृष्टि भी शुद्ध है जैसे सुपुत्र माता की सेवा तन, मन, धन, से करता है, इसी प्रकार आप मेरी सेवा कर रहे हैं। वोलो क्या लक्ष्य है आपका ? बुल्लेशाह ने कहा कि सैय्यदपने के अभि-मान की निवृत्ति के लिए ही सेवा करने आया हूं। मेरे गुरु-देव मेरे देहाभिमान के कारण मुझ से रुष्ट हो गये हैं। उनकी प्रसन्नता के लिए यही साधन सूझा कि वे संगीत से प्रेम रखते हैं। तू कलाकार है मेरे गुरुदेव मुझे प्रसन्न करदो मैं जीवन भर आभारी रहूंगा। मुझे श्री कबीर साहिब की वाणी से निश्चय हुआ है—

'कबीर वह नर अन्ध हैं, गुरु को माने और।
हरि रूठे गुरु ठौर हैं, गुरु रूठे नहीं ठौर॥

इस पर वेश्या ने पूछा—आपके गुरुदेव का शुभनाम क्या है। तथा वे कहाँ रहते है ? बुल्लेशाह ने उत्तर दिया—मेरे

गुरुदेव यहीं कसूर में ही रहते हैं और उन का शुभ नाम परम कल्याणकारी, पीर रोशन जमीर बहज़ूर फैज़ गंज़ूर सच्ची सरकार हादी शाह इनायत साईं जी है। वेश्या असमन्जस में पड़ गयी और पूछा—इतने बड़े नाम वाला मैंने कोई व्यक्ति न सुना है, न देखा है, वे काम क्या करते हैं ? बुल्लेशाह ने उत्तर दिया काम तो वे सब्जी का करते हैं। यह सुनते ही वेश्या तपाक से बोली—इनायत अराई ? इतना लम्बा चौड़ा क्यों बतलाया। आप इतने बड़े व्यक्ति हो, आपकी बुद्धि को क्या हो गया है ? बुल्लेशाह ने जैसे बात पकड़ली हो, बोले—इसी बड़प्पन से मैं लूटा गया हूं। सर्वनाश कर बैठा हूं तू चर्चा न कर—मुझे मेरा रूठा गुरुदेव मना दे। वेश्या बोली इनायते को मनाने में क्या देर लगती है ? मैं अभी मना देती हूँ।

बुल्लेशाह ने विचार किया कि मेरे अन्दर मैं आयी तो सब कुछ खो बैठा, अब इसके भीतर भी 'मैं' आगयी है। प्रभु जाने कार्य सिद्ध होगा कि नहीं। चलो—क्या रंग लाता है मुकद्दर, आज़माते हैं।' बोले—हे वेश्या कलाकार, तू चल और शीघ्र नृत्य तथा संगीत द्वारा गुरुदेव को रिझाओ। वेश्या अभिमान सहित चली और वहाँ नृत्य, संगीत के सब कौशल दिखलाये, परन्तु सफल न हुई। गुरु जी, शाह इनायत साँई नेत्र मूंदे बैठे रहे। अन्ततोगत्वा बुल्लेशाह को स्वयं प्रेम का आवेश आगया। वेश्या के वस्त्र लेकर वहीं पहिन लिए और घुंघरू पावों में बाँधकर, नृत्य करके हृदय की करुण पुकार से गाने

लगे। पंजाबी शब्दों में जो भाव हृदय ने व्यक्त किये वह लिख रहे हैं—कितना उन्माद-प्रेम है इन शब्दों में।

तेरे बाग बहार गुलज़ार मुरशिद,
इक डिकड़ा कंडड़ा मैं भी सही।
तेरे कोल आलम फ़ाजिल मौलवी नें
इक जाहिल बन्दड़ा मैं भी सही।
तेरे पास हाथी, घोड़े, ऊंट, मंभी,
इक भेड़ दा भुंटड़ा मैं भी सही।
तेरे शेरां दे गल संगल ओ मुरशिद,
इक कुत्ते दा दण्डड़ा मैं भी सही॥

सोहणे मुरशिद दे नाल मेरा नेह,
लगा लूं लूं मुहब्बत एह संजरी है।
बाहिर ढोल बाजे मारू इश्क वाला,
सीने विच प्रेम दी खंजरी है।
तेरे चाल चकोर ते मस्त होइयाँ,
सारा लोक आखे एह ताँ चन्दरी है।
बुलिया नच के मुरशिद मना लईये,
दुनियां पई आखे रन कंजरी है॥

रातीं जागें ते शेख सदावें राती,
जागन कुत्ते तैं कनू उत्ते
दर साईं दा छोड़ न जांदे भावें,

सौ वारी पिया कूटे तैं कनू उत्ते ॥
सारी रात ओह पहिरा देवन दिने,
वंज अरूड़ी सुते तैं कनू उत्ते।
बुलिया उठ मना मुरशिद नूं-नहीं
ताँ बाजी लै गये कुत्ते तैं कनू उत्ते ।

—इतने शब्द कहकर साईं इनायत शाह के चरणों में गिर पड़े। नेत्रों के जल से गुरुदेव के चरण धो दिए। गुरु का मन द्रवीभूत हो गया और बुल्लेशाह को उठाया और कहा 'बोल बुल्ला कि भुल्ला'। तो बुल्लेशाह ने करुण-पुकार से कहा कि भुल्ला हूँ। अब क्षमा करदो फिर स्वप्न में भी अभिमान नहीं आयेगा।

गुरुदेव ने हृदय से लगाया और फिर उसके सिर पर कृपा का हाथ रक्खा। फिर ज्योति का प्रकाश हो गया। खोई हुई शक्ति फिर प्राप्त हो गई। (भाव-परोक्ष का अप-रोक्ष साक्षात्कार हो गया)। गुरु कामिल, शिष्य आमिल, खुदा शामिल वाली बात है। स्त्री-पति का मन मिल जावे तो घर में स्वर्ग उतर आता है। गुरु-शिष्य का मन मिल जावे तो घर में स्वर्ग उतर आता है। कहने का अर्थ यह है कि गुरु-शिष्य का मन मिल जावे तो शक्ति वहां स्वतः पहुंच जाती है।

फिर एक बार बुल्लेशाह जी निकट एक ग्राम उच्च में गये। वहां उनके सैय्यद सम्बन्धी रहते थे। उन लोगों ने

स्वागत किया, वढ़िया कुर्सी मंगवायी, प्रार्थना की कि इस पर वैठो। स्वयं भी वे सब कुर्सियों पर वैठे थे। वुल्लेशाह् बोले—मैं तो नीचे वैठूंगा। ऊपर नहीं वैठ सकता। वे लोग बोले हम जो वैठे हैं, आप भी वैठ जाएं। इस पर वुल्लेशाह् ने प्रेममयी वाणी में कहा—

तुसी आप वी उच्चे तुसाडा वतन उच्चा,
तुसी विच उच्चियां दे वहिन्दे॥
असी आप कसूरी साडा वतन कसूरी-
असी विच कसूरां दे रहिन्दे॥

—बुल्लेशाह् कसूर के रहने वाले थे। युक्ति से शब्द प्रयोग किये हैं—वह भी निर्माण हो गये। निर्माण यह हुआ कि इस गुरु भक्ति के मार्ग पर चलने वाले सेवक के मन में अहं-भाव नहीं होना चाहिए। वहुत समय की की हुई कमायी क्षण भर में चली जाती है जिस प्रकार से पाँच सेर मिठाई-एक रत्ती विष मिलने पर सारी वेकार हो जाती है। इसी प्रकार कई वर्ष तक सेवा करने के वाद थोड़ा भी मन में अभिमान आ गया तो सारी की हुई कमायी (सेवा) वेकार हो जाती है। प्रिय पाठको! निर्णय हुआ है कि केवल मात्र घर (संसार)छोड़ देने पर कोई त्यागी नहीं हो सकता है। होना यह चाहिए कि घर के दुश्मनों (सांसारिक मोह, लोभ, काम, क्रोध एवं अहंकार) का त्याग करना है। संसार में रहो-संसार के होकर न रहो। ममता-आसक्ति का त्याग जरूरी है। यही सच्ची भक्ति एवँ सेवा है। जिसके अन्दर ममता

आसक्ति का अभाव है—वही सच्चा त्यागी है और वही इस दुर्गम-मार्ग पर चल सकता है।

—:o:—

जीवन का निर्माण और पतन

जीवन निर्माण के पंचशील:—

सेवा

स्मरण

सत्संग

संयम

साधना।

जीवन पतन के पाँच कारण :—

व्यर्थ दर्शन

व्यर्थ श्रवण

व्यर्थ भाषण

व्यर्थ भ्रमण

व्यर्थ चिन्तन

अनन्य-गुरुभक्ति एवं आत्म-समर्पण

ईश्वर के पुत्र मानवगण इसलिए नहीं बनाये गये हैं, कि वे व्यर्थ ही इधर-उधर मारे मारे फिरें। वे इसलिए बनाये गये हैं कि वे ऊँची आकांक्षा करें शुभ-चिन्तन करें, प्रयत्नशील एवं निष्ठावान बनें। वे इस वास्ते नहीं बनाए गये हैं कि अपनी दुर्बल भावनाओं के प्रभाव में पड़े पड़े सड़ा करें, अपने स्वरूप और शक्ति-भण्डार से अपरिचित रहें। वे तो इसलिए बनाये गये हैं कि महान और श्रेष्ठ पदार्थों को प्राप्त करें। शान्ति के अधिराज परमात्मा के पुत्रों के भीतर पूर्ण श्रेष्ठता पूर्ण महत्ता और पूर्ण ऐश्वर्य मौजूद है। यही सब कुछ समझना और पाना है। सच बात यह है कि हम अपने ही संसार में रहते हैं, और हम अपने ही विचारों के फल हैं।

मुलम्मे का सोना तब तक पहना जाता है, जब तक शुद्ध स्वर्ण नहीं मिल पाता। गुड़ की चाय तब तक व्यक्ति पीता है, (जो गुड़ के आदी हो चुके हैं—उनका प्रश्न इस मिसाल में नहीं) जब तक चीनी नहीं मिलती। यदि किसी मकान में धरती के नीचे अमूल्य धन-सम्पत्ति, जवाहरात पड़े हों, और फिर भी मकान में रहने वाला मजदूरी करे तो किसका दोष है? यही ना कि उसे धन का ज्ञान नहीं अथवा ज्ञान होते हुये भी भूला हुआ है। भूलना ही प्रारब्ध बन जाता है। अपने

स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर प्रारब्ध भी सहयोगी हो जाता है। इसीलिये तो कहा है—हम अपने विचारों के फल हैं, हमारे विचार ही हमारे संस्कार हैं। हम (जीवी) स्वयं ऐश्वर्य-स्वरूप होकर भी कंगाल बने फिरते हैं। है न हमारी अपनी ही दुर्बलता ?

दोहा—भीखा भूखा कोई नहीं, सबकी गठरी लाल।
गाँठ खोल देखत नहीं, इस विधि भए कंगाल।।

हम सभी गुरु-वाक्य जैसी शक्ति पाकर क्यों कंगाल रहें हम सभी गुरु-शरण पाकर जान चुके हैं कि जब गुरुदेव जिज्ञासु को अपने स्वरूप का निश्चय करा देते हैं, तो फिर दुःख भय शोक नहीं रहता है। फिर उसे ज्ञात हो जाता है—"नाहम् देहो न ये देहा केवलोऽहम् सनातनः।" दोहा—

चली पूतरी लवण की, थाह सिन्धु की लैन।
अनाथ उलट आये भयी, पलट कहे को वैन।।

लाली देखन मैं गयी, हो गई मैं भी लाल।
लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल।।

ब्रह्म दृष्टि सत्गुरु कियो, मेटे भर्म विकार।
जहाँ देखूं तहां एक ही साहिब का दीदार।।

कबीर जाको खोजते सोई पाया ठौर।
सोई मुड़के तूं भया जो को कहता और॥*

तूं तूं करता तूं भया मुझ में रही न तूं।
आपा परका मिट गया जत देखूं तत तूं॥*

कतरा मिल दरिया से दरिया हो गया।
जो मिला मौला से मौला हो गया॥*

कुछ ऐसे ही भाव पंजाबी में हैं:—

सीन सुखी होय दुख दूर होय,
वेख मुख महबूब दे चन्द नूँ जी।
रात चाँदनी शान्त है दुध जेही,
पाया चित्त चकोर आनन्द नूँ जी॥
भटक भटक के हुण है सही कीत्ता,
अपने अन्दर ही बाल मुकन्द नूँ जी।
होई मंगलाचार जयकार मित्रो,
पाया अन्दरों आत्मा नन्द नूँ जी॥

साईं बुल्लेशाह कहते हैं—

आपे अलाह हो, फकीरा आपे अलाह हो।
तूं मौला नहीं बन्दा गन्दा,
छोड़ दुई दीखो। फकीरा आपे…
तूं है सब दी जान प्यारे,

---

* यथोपासते तदैव भवति,
यं ध्यात्वां तदेव भवति।

तैनू ताहना लगे न को। फकीरा आपे····

तूं ही मस्ती विच अमलाँ दे,
हर गुल विच खुशबो। फकीरा आपे···

तूँ ही वसें हर इक दिल विच,
तेरी सब है लौ। फकीरा आपे····

आपे तीरथ आप भगीरथ,
मन गंगा मल धो। फकीरा आपे····

शेर : लहर वहर आब हस्त बाबा हाज़ते तकरार नेस्त। लहर-वहर पानी ही है। कहने का अभिप्राय: है, अपना आप का परिचय पाने के साहस के साथ हमारे हृदय में अनन्य प्रेम है अथवा नहीं। यदि हम में विश्वास है तो हम श्री गुरु-वरदान द्वारा बड़े-बड़े कार्य कर सकने में समर्थ हैं। क्योंकि हमें ज्ञान हो गया है कि हम में वह योग्यता है जिससे महान कार्य सम्पादन किये जा सकते हैं, तो हमें अवश्य सफलता प्राप्त होगी। अनन्य भक्ति एवं पूर्ण आत्म समर्पण ही आपके लिए परम हितकर है। इसके लिए ही हृदय से कोशिश करो, अवश्य वह आपको मिलेगी। इस तरह के निश्चय से आपका मनुष्यत्व बढ़ेगा।

हम तो तेरे मस्ताने हैं,
हम ज़ेर ज़बर को क्या जानें?

यह रंग जो तेरी माया का,
भूले जीवों को सताता है।

हम रंगे हुए तेरे रग में हैं,
माया के रंग को क्या जानें ?

वेदों का हमको ज्ञान नहीं,
तूं आता हमारे ध्यान नहीं।

जव समदर्शी है नाम तेरा,
अपने से जुदा फिर क्या जानें ?

हम आनंद रस के भोगी हैं,
नहीं जन्म-मरण के रोगी हैं।

हम निर्मल निश्चल योगी हैं,
कलियुग सतयुग को क्या जानें ?

जो देह दृष्टि में रहते हैं,
वह तीन गुणों को कहते हैं।

माया के रूप में बहते हैं,
वह निज स्वरूप को क्या जानें ?

जिन निज स्वरूप को जाना है,
माया का पता क्या पाना है।

वहां अहं ब्रह्म का ताना है,
वह काम क्रोध को क्या जाने?

जो नार पिया संग जाय बसी,
गुड़ियों के खेल को क्या जाने ?

हम खुद मस्ती में मस्त हुए,
दुनियां की खबर को क्या जानें ?

हम खुद मस्ती में रहते हैं,
नहीं ऊँच नीच में बहते हैं।
जो आय बने सब सहते है,
दुनिया भी हमको क्या जाने ?
हम तो तेरे मस्ताने हैं,
हम ज़ेर ज़बर को क्या जानें?

यह अनन्य प्रेम एवं भक्ति है। अनन्य भक्ति के अर्थ हैं—एक की भक्ति और वह एक की भक्ति गुरु की ही भक्ति हो सकती है क्योंकि मन मति भक्ति से यह जीव कभी ठौर ठिकाने नहीं लग सकता है। मन का तो स्वभाव है कि वह बन्दर के समान कभी कहीं कभी कहीं उछलता कूदता रहता है और अनेक सम्बन्ध आसपास बनाये रखता है। अनेक सम्बन्ध से छूटने के लिए एक गुरु से सम्बन्ध जोड़ा जाता है। पतिव्रता स्त्री एक पति से सम्बन्ध रखती है और व्याभिचारिणी का अनेक से होता है। दोहा:—

"सब आये उस एक में, डाल, पात, फल, फूल।
अब कहो पाछे क्या रहा, गहि पकड़ा जब मूल॥"

एक विशेष विचार दृष्टान्त के रूप में कहते हैं। एक राजा ने अपनी पुत्री का स्वयंवर रचा। उस राजा ने एक बनावटी किला कागजों का बनवाया। सब बनावट कागजों की बनायी, उस किले के पांच दरवाजे रखे, और पाँच दरवाजों पर पांच अफसर बैठाये। किले के ऊपर मोर्चों पर

सैकड़ों सिपाही खड़े किये हुए थे। और एक बड़ा अफसर, सेना का नायक-हथियार लगाये, उस किले के बुर्ज पर खड़ा था। यह किला और सेना नायक सब कुछ कागजों के बनवा कर बीच में दारू-बारूद भरा हुआ था। राजा ने किसी को पता न लगने दिया। अनेक देशों के राजा आ गये, तो स्वयंवर-स्थल पर राजा ने कहा—'जो अकेला ही इस किले को फतेह करेगा। उसको मैं अपनी लड़की का दान दूँगा।' यह सुनकर सब राजा अपने अपने देशों को वापिस जाने लगे। तब उस राजा ने जनक की तरह कहा—अफसोस अब कोई क्षत्रिय राजपूती आन को रखने वाला नहीं है। वीरों से पृथ्वी खाली हो गयी है। यह शब्द सुनकर एक नवयुवक राजपूत कड़क कर बोला—कौन कहता है कि शूरवीर नहीं रहे, मैं अकेला ही इस किले की सेना से मुकाबिला करूंगा। यह कह उसने किले के नायक पर अग्निबाण चलाया। बाण लगते ही सब कागजों की सेना, सेना नायक सहित किला भस्म हो गया।

इसका भाव यह कि ईश्वर रूप राजा ने मुक्ति रूपी अपनी पुत्री का स्वयंवर रचा। शरीर रूपी किला बनवाकर, पाँच ज्ञान इन्द्रिय दरवाजे रखे। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह पाँच विषय-रूप पाँच अफसर हैं। मन रूपी सेना-पति नायक है। जिज्ञासु रूपी वीर ने अभ्यास रूपी धनुष लेकर, वैराग्य विचार रूपी बाण लेकर मारा तो मन के सहित सारी सेना नाश हो गयी। (मन जीते जग जीत) मनोनाश

से वासना क्षय हो जाती है। परन्तु सब कुछ गुरु कृपा से ही हो सकता हैं। यह विषय केवल साधन साध्य नहीं, कृपा साध्य है।

'यह गुण साधन ते नहीं होई।
तुम्हरी कृपा पाव कोई कोई ॥'

निर्णय हुआ है—जो सच्चा जीवन गुरुमुख है, उसका जीवन बड़ा अनमोल होता है। क्योंकि इस संसार समुद्र से केवल आप ही नहीं तरता बल्कि उसके द्वारा लाखों जीव भव-सागर पार उतर जाते हैं, गुरुमुख का जीवन अपना नहीं है, बल्कि वह दूसरों की खातिर है। ऐसे निष्काम और सुधरे हुए जीवन से अनेक जीवन सुधर जाते हैं और उस शरीर से परमार्थ की स्वतः वृद्धि होती है। जो मनुष्य जैसे विचार रखता है, उसकी दशों-दिशा की सृष्टि पर भी उसके विचारों का प्रभाव पड़ता है। यदि वह बुरा है तो उसके निकट रहने वालों पर उसकी बुराई का असर पड़ेगा। एक नियम है—लोग कहा करते हैं कि—

"आप भला तो जग भला। आप बुरा तो जग बुरा।"

सूर्य रोशनी का भण्डार है। जिस समय वह अपनी सम्पूर्ण रोशनी के साथ चमक उठता है तो उसके प्रकाश से सब संसार अपने आप प्रकाशमान हो जाता है। सारा संसार प्रसन्न हो जाता है, कार्य सबके चलते हैं, प्रकाश के द्वारा, पर उल्लू को प्रकाश नहीं भाता है। इसी प्रकार यहां पुरुष जब

आत्म शक्ति को गुरु से प्राप्त करके संसार में चमकता है, सब प्रसन्न होते हैं। परन्तु वे मूर्ख दुष्ट प्रकृति के उनसे लाभ नहीं उठा पाते। गुरु की भक्ति एक उत्तम भक्ति है, इसके बिना सेवक का काम नहीं बनता। शास्त्रों में हर जगह अनन्य भक्ति पर जोर दिया है। दुनियाँ भूली हुई है, जो जगह जगह पर हाथ पांव मारती है, जिस प्रकार पत्तों को सींचने से हाथ पल्ले कुछ नहीं पड़ता है। उसी प्रकार जगह जगह फिरने से भी कुछ हाथ नहीं आता है।

दोहा—"पात पात को सींचते, पेड़ को दिया सुखाय।
माली सीचें मूल को, ऋतु आये फल खाय॥"

जिसको पूर्ण गुरु मिल जाने पर भी मन को शान्ति नहीं हुई तो इसका कारण यह है कि अभी मन को अनेकों सम्बन्धों से नहीं हटाया। जब तक मन का लगाव कहीं इधर उधर है, तब तक गुरुदेव मिलने पर भी पूर्ण शान्ति नहीं मिलती, सुखानंद का अनुभव नहीं हो सकता। कमी अपने में होती है। तब तक चुम्बक लोहे को खींचता है, जब तक लोहे के कण लोह धातु के हैं। परन्तु जिस लोहे में किसी और धातु की मिलावट होती है, वह नहीं खिच सकता है—अतः अपनी मिलावट को दूर करें, इधर तो सर्वत्र ठीक है, उत्तम ही उत्तम है। कई एक जिज्ञासु कहते हैं मन वश में नहीं होता है। अतः यदि मन तेरे काबू में नहीं आता तो जिसके द्वारा मन काबू आ जाये, उसको भेंट कर दे। यदि तू जानकार नहीं है तो ---

कार की शरण लेने में ही सार है। आत्म बन्धुओ ! गुरु वाणी में आता है।

"मन बेचे सतगुरु के पास।
तिस सेवक के कार्य रास ॥
सेवा करत होहि निहकामी।
तिसको होत प्राप्त स्वामी ॥"

मन चंचल है। अतएव उसे सतगुरु के भेंट कर दे औ स्वयं सेवा का लक्ष्य बनाये। यदि हमारे पास घड़ी है, वह किसी को दे दी जावे (सौंप दें) तो चाबी देने की चिन्ता उसकी खराबी के सुधारने की चिन्ता, उसको सम्भाल कर रखने का ध्यान उनको ही होगा—स्वयं तो चिन्ता मुक्त हो जाओगे। शर्त यह है कि उसमें अपनी ममता न हो, पूर्ण रूप से समर्पण कर दें। परिणाम यह होगा—

"आओ तुमको आज खुश खबरी सुना देते हैं एक,
एवज़ इक दिल के खुदा मिलता सरे बाजार है।"

परन्तु दिल देना कठिन है। यदि कपड़े की सिलाई का ज्ञान हमको नहीं तो हमारा धर्म है कि टेलर मास्टर की भेंट कर दें परन्तु ऐसा न हो कि कपड़े का एक कोना स्वयं पकड़े रक्खें और तीन कोने टेलर मास्टर को सौंप दें—इस तरह तो वह सिलाई न कर सकेंगे। फिर तो वही बात होगी—

"न खुदा ही मिला न वसाले सनम,
न इधर के रहे, न उधर के रहे।"

"—यहां तो पूर्णरूप से समर्पण करना होगा। थोड़ी भी ममता (आसक्ति) अपनी रह जावें तो फिर दुःख बना ही रहेगा। घोड़े की लगाम अपने वश में न हो तो उसको ही पकड़ानी चाहिए जो ठीक वश में रखना जानता हो। फिर गिरने का भय नहीं रहता है। लगाम जिसको सौंप दी जावे, उसे सब बचाव का ध्यान रहता है। यदि मोटर चलाने का ज्ञान पूर्ण रूप से अपने को न हो तो योग्य ड्राइवर को सौंप देनी चाहिए। वह स्वयं सुरक्षित रखेगा। पीछे चिन्ता मुक्त होकर बैठ जाओ और हृदय से कह देना चाहिए :—

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर॥

शेर—खुद मुझको जाँच लीजे, खोटा हूँ या खरा हूँ।
मुझको खबर नहीं है, किस काम का हूँ, क्या हूँ॥
आखिर को तेरी रहमत आयेगी काम मेरे।
जैसा भी हूँ तेरा हूँ अच्छा हूँ या बुरा हूँ॥

आत्म-बन्धुओ, यह है पूर्ण आत्म-समर्पण का स्वरूप। आजकल प्रायः ऊपरी वाणी से कहते हैं कि तन-मन-धन तेरा है। परन्तु हृदय से 'मेरापन' का दृढ़ अभ्यास होता है। इसलिए अपने लक्ष्य तक जीव नहीं पहुँच पाता है। अपनी ममता, अहंता पूर्ण रूप से त्याग देनी चाहिए। यदि थोड़ा-सा भी अहम् भाव रहेगा तो कल्याण सम्भव नहीं। हृदय निरीह और निर्मल होना चाहिए।

अहंता ममता (आसक्ति) का कारण वन जाती है। इसका त्याग ही मोक्ष का कारण होता है। इसी पर एक सजीव दृष्टान्त है—हृदय से मनन करने योग्य।

श्री शुकदेव जी जन्म के त्यागी थे। माता के गर्भ से उत्पन्न होते ही वन की ओर भाग पड़े तो पिता वेद व्यास जी ने कहा—"किधर को भागे जा रहे हो वत्स ? शुकदेव विनीत भाव से बोले—बन में एकान्त साधन कर साध्य की प्राप्ति करूंगा। अर्थात आत्म तत्व का साक्षात्कार करूंगा श्री वेद व्यास जी ने कहा—बेटा बिना गुरु के अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकोगे। प्रथम किसी तत्ववेत्ता महापुरुष की शरण में जाओ और प्रणाम, सेवादि करो। वे फिर आत्म तत्व का उपदेश देंगे। रामायण में आता है :—

"गुर बिन भव-निधि तरे न कोई।
जे विरंच शंकर सम होई॥"

शुकदेव जी बोले—आप सर्व शास्त्रों के ज्ञाता एवं निर्माता हैं तो आप ही उपदेश देकर अनुग्रहीत करें। श्री वेद व्यास बोले—'आत्म तत्व का उपदेश तो मैं तुम्हें दे सकता हूँ। परन्तु तेरी मुझ में पिता वाली वुद्धि है।

इसलिये तुमको मैं एक उच्चकोटि के महापुरुष के पास भेजता हूं शुकदेव जी ने पूछा—किसके पास ? पिता ने कहा—महाराजा जनक जी के पास। शुकदेव जी ने निवेदन किया—मैं जन्म का त्यागी और वह महाराजा—कैसे वात वनेगी।

तो श्री वेद व्यास जी ने कहा—पुत्र वे तो विदेह (मुक्त) हैं, और तो क्या उनको अपने शरीर में भी आसक्ति नहीं और दार्थ में होता ही क्या है ? पिता के वचनों को सुनकर एवं आज्ञा पाकर ही शुकदेव जी महाराजा जनक के द्वार पर जा पहुंचे।

द्वारपालों ने देखा, वाह-वाह जन्म के त्यागी श्री शुकदेव जी महाराज पधारे हैं। सबने सादर प्रणाम किया और प्रार्थना की—भगवन् आपका कैसे आगमन हुआ है। शुकदेव ने कहा—श्री जनक जी से उपदेश लेने आया हूं। द्वारपालों ने शीघ्र ही महाराजा को सूचना दी कि आपके द्वार पर श्री शुकदेव जी खड़े हैं। महाराजा जनक अपना अतिथि जान स्वागत के लिए जाने लगे तो द्वारपाल बोले—वह तो आपसे उपदेश लेने आये हैं। तो फिर महाराज बोले—मैं नहीं जाता और शुकदेव जी से कहो अभी भीतर आने की अनुमति नहीं है। तीन दिन तक अभी द्वार पर ठहरें फिर भीतर आना होगा तो शुकदेव जी ने कहा यदि तीन मास आज्ञा करते तो भी खड़ा रहता। केवल तीन दिन की आज्ञा शिरोधार्य है।

महाराजा जनक परीक्षा लेना चाहते थे कि इनके भीतर त्याग का अभिमान है या नहीं। यदि अभिमान है तो क्रोध अवश्य आयेगा। परन्तु वह तीन दिन बिना खाये, पीये, सोये सहर्ष खड़े रहे। तब महाराजा ने आज्ञा दी कि अब भीतर आ जावें। श्री शुकदेव जी ने दण्ड कमण्डल वहीं द्वार पर

रखा और नम्रभाव से जब भीतर गये तो क्या देखा, जनक जी स्वर्ण के सिंहासन पर विराजमान है और सुन्दर-सुन्दर स्त्रियां चरण दबा रही हैं और मधुर गीतों का गायन कर रही हैं और अनेक प्रकार के भोग, खान-पानादिक चारों तरफ रखे हैं। बन्दीगण स्तुति कर रहे हैं। जड़-माया, चेतन-माया की सारी सामग्री देखकर शुकदेव जी के मन में घृणा आयी। यह तो भोगों में अति आसक्त हैं। यह कैसे ज्ञानी हो सकते हैं ? भला यह मुझे क्या उपदेश देंगे ? जो शमां स्वयं बुझी हो, दूसरों को क्या प्रकाश देगी। ऐसा जान मन उपराम हो गया, तो विचार आया, यहाँ वृथा ही आया हूँ।

महाराज जनक हृदय की बात जान गये और विचार किया कि पहली परीक्षा में तो उत्तीर्ण हो गये। परन्तु दूसरी में अनुत्तीर्ण, तो एक ऐसी माया रची, जो मिथिलापुरी में आग (अग्नि) लग गयी है और बाहर से दूत दौड़ कर आये। निवेदन किया कि महाराज मिथलापुरी में आग लग गयी है। जनक शान्त, एकाग्र, अविचल एवं प्रसन्न रहे। उनके मन में थोड़ा भी क्षोभ नहीं हुआ। फिर एक दूत घबड़ा कर बोले, महाराज आग तो द्वार के निकट आने वाली है। आपको किंचित क्षोभ नहीं, उठिए यहां से—महाराज फिर भी प्रसन्नचित्त रहे और कहा कोई चिन्ता नहीं :—

"आपे पावक आपे पवना।
राखे राम ते मारे कवना॥

को ताहु को मारन हारा।
कमलाकन्त जासु रखवारा।।"

—इस पर भी प्रसन्न रहे। इतने में एक दूत रोता हुआ चिल्लाता हुआ आया कि महाराज आग तो द्वार के भीतर घुस आयी है। सुनते ही शुकदेव जी का मुख उतर गया तो कर्मचारी ने कहा—"महाराज आप क्यों उदास हो गए हैं? शुकदेव जी बोले, मेरा दण्ड-कमण्डल वहां रह गया है, वह जल गया होगा। जनक जी उनके हृदय की बात जान गये और सिंहनाद करते हुए यह गूढ़ तत्व विश्लेषण किया—उन्होंने कहा—"जो मेरा आत्म रूपी वित्त धन है, वह अनन्त है अर्थात् जिसका अन्त कदापि नहीं हो सकता। इस मिथला-पुरी के जल जाने से मेरा तो कुछ भी नहीं जला।"* यह श्रवण कर, शुकदेव जी मन में लज्जित हुए और उनको पूर्ण विश्वास हो गया कि यह पूर्ण ब्रह्म-ज्ञानी जीवन मुक्त हैं। अकारण ही जड़-माया और चेतन-माया के भुलावे में आकर संशय किया।

योग वासिष्ठ में जीवन-मुक्त के लक्षणों का सुन्दर वर्णन किया है। जिज्ञासु हृदय से एकाग्रचित्त मनन करें—"यदि सूर्य शीतल हो जाये और चन्द्रमा अति गरम हो जाये। अग्नि का मुख नीचे जलने लगे परन्तु जीवन्मुक्त को आश्चर्य नहीं होता। बड़े-बड़े पर्वतों को अपनी जगह से हिलाने वाली प्रलय

---

* अनन्तवत्तु ये वित्तं यन्मे नास्ति हिंकिंचन।
मिथिलायां प्रदग्धानां नमे दह्यति किंचन।।

के अहंकार से भी उसको क्षोभ नहीं होता है—उसको महात्मा कहते हैं।"* ऐसी धारणा कि यह लक्षण ही महाराज जनक में हैं तो शुकदेव जी गुरु महाराज के श्री चरणों में गिर पड़े, अपनी त्रुटि की क्षमा माँग आत्मतत्व का उपदेश, दीक्षा ली। शिष्य अपने सच्चे हृदय से श्री गुरुदेव के चरणों में आत्म-समर्पण करदे। अपनी अहंता ममता न रखे तो उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। मन को उल्टा कर दो तो नम होता है। भाव नम्रता से श्री चरणों में जावे, हृदय में सूक्ष्म मात्र भी अहं न हो तब गुरु की कृपा का पात्र बन जाता है।
दोहा—

कथनी मीठी खांड सम करणी विष की लोये।
कथनी तज करणी करे, विष से अमृत होये॥

गीता में स्वयं भगवान कृष्ण-अर्जुन के प्रति कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ (९-३४)

इसका हिन्दुस्तानी भाषा में अनुवाद आप सम्भालें:—

"सबसे यकसू होके जो मुझसे मिलाता है नजर,
मैं भी उसको देखता हूँ, यह मेरा इकरार है।
छोड़ दे सब मिल्लते ले मुझ अकेले की पनाह,
यह मेरा जिम्मा है अर्जुन तेरा बेड़ा पार है॥"

---

* अपि शीत रुचा वर्के सुतीक्ष्णे चेन्दु मण्डले।
अप्यधः प्रसरत्यग्नौ जीवन मुक्त न विसमयी॥
प्रलयस्यापि हुंकारैर्महाचल विचालकै:।
विक्षोभं नैति तस्यात्मा स महात्मेति कथ्यते॥

जैसे किसी की रक्षा में आप बैठ जायें तो धूप से आपको बचाने की, वर्षा से बचाने की, उतरायी-चढ़ायी से बचाने की, एक्सीडेण्ट से बचाने की, अपनी मंजिल तक पहुँचने की सब जिम्मेदारी रक्षा वाले की हो जाती हैं। इसी प्रकार जब आप गुरुदेव जी की ओट (रक्षा) के सहारे बैठ कर आत्म-समर्पण अनन्य-भक्ति भावना के साथ कर देंगें तो आपकी सारी जिम्मेदारी (लोक-परलोक की जिम्मेदारी) वह अपने ऊपर ले लेंगे। यह मार्ग कठिन है, अभिमान रहित जिज्ञासू ही इस पर कदम रखें। श्री गुरुदेव की कल्याणकारी नज़र तो हमेशा-हमेशा से आती रहेगी।

—×—

भजन

ज़ब सतगुरु पूर्ण देव मिले, फिर दूसरा देव मनाना क्या।
आत्म में आत्म देव मिले, फिर बन-बन खोजन जाना क्या॥
मैं सतगुरु की सतगुरु मेरे, मैं और नहीं वह और नहीं।
जब ऐसा निश्चय जान लिया, फिर और से प्रीत लगाना क्या॥

सतगुरु से सच्चा ज्ञान मिला, भव तरने का सामान मिला।
फिर पोथी पुस्तक पन्ने में व्यर्थ ही समय गंवाना क्या॥
सतगुरु की दया से घर भीतर, सत् शब्द का जब प्रकाश मिला
जब मन मन्दिर में ज्योति जगी, फिर दूसरा दीप जलाना क्या॥

—×—

गुरु-भक्ति का अन्तिम-ध्येय-प्रत्यक्षानुभूति

सेवक को पराधीन कहते हैं। परन्तु निष्ठावान स्वेच्छा से सच्ची सेवा में तल्लीन सेवक से बढ़ कर स्वतंत्रता का आनन्द और किसी को नहीं होता है। सेवा और प्रेम कई प्रकार का होता है। देहाभिमान शून्य सेवा एवं प्रेम ही उपासना कहलाता है। श्रेय पथ पर चलते, जिज्ञासु के हृदय में थोड़ा सा अभिमान आ जाये तो वह आगे चल नहीं सकता है। लक्ष्य हमारा सभी का एक है किन्तु गुरु-निष्ठा, अनन्य भक्ति द्वारा हमें सूक्ष्म तत्व का आत्म-साक्षात्कार करना है। स्वभाव से हम मुक्त स्वरूप है। हमारा अन्तिम ध्येय सेवा, निष्ठा, शीलता, एवं अनन्य निर्मलता द्वारा हासिल होगा। हमें युगों-युगों तक शायद परीक्षाऐं देनी पड़ें, गुरुमुख हुये बगैर प्रत्यक्षानुभूति [स्व-स्वरूप बोध] का मिलना दुष्तर है। कोरे आभास मात्र से कुछ नहीं होता है।

"जिस देहाभिमानी का स्थूल, सूक्ष्म आदि देहों से सम्बन्ध होता है, उसी को सुख अथवा दुःख तथा शुभ अथवा अशुभ की प्राप्ति होती है; जिसका देहादि बन्धन [गुरु-कृपा से] टूट गया है, उस सद्-स्वरूप मुनि को शुभ अथवा अशुभ

फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?"* महापुरुष भी प्रथम पात्र देखते हैं। शिष्य योग्य हो तो अपना सारा रूहानी उसे सौंप देते हैं। परन्तु प्रथम परीक्षा अवश्य लेते हैं। प्रत्यक्षानुभूति हमारा अधिकार क्षेत्र है। एक जिज्ञासु संत कबीर दास जी के चरणों में गया और प्रार्थना की कि मुझे श्री चरणों का दास बनालो—भाव आत्म-तत्व का उपदेश दो। कबीर दास जी ने कहा—पहिले चार प्रकार की भिक्षा ले आओ, फिर तुमको आत्म-उपदेश करेंगे।

सेवक बोला, आज्ञा करें, ले आऊंगा। गुरुदेव बोले—

"पहली भिक्षा अन्न की लाना,
ग्राम, नगर के पास न जाना।
हिन्दू, तुर्क, छोड़ कर आना,
ले आना भी झोली भरके।।"

दूजी भिक्षा जल की लाना।
कूप, बावली, पास न जाना।
ताल, तलाई, छोड़ के आना,
ले आना भी तूंबा भरके।।

---

* स्थूलादि सम्बन्धवतोऽभिमानिनः
सुखं च दुःखं चा शुभाशुभेच।
विध्वस्तबन्धस्य सदात्मनो मुनेः
कतः शुभं वाप्यशुभं फलं वा।।
—विवेक चूड़ामणि-५४७

तीजो भिक्षा माँस की लाना,
जीव जन्तु के पास न जाना।
जिन्दा, मुरदा, छोड़कर आना,
ले आना भी हाँडा भरके ॥

चौथी भिक्षा लकड़ी की लाना।
बाग, वृक्ष, के पास न जाना।
सूखी, गीली छोड़ कर आना,
ले आना भी गठ्ठा भरके ॥

जिज्ञासु श्रवण कर बोला—गुरुदेव यह मेरी समझ में नहीं आया। एक भिक्षा तो ग्राम या नगर में जाने से ही मिलती है। परन्तु आपकी आज्ञा है न ग्राम में जाना, न ही नगर में जाना। फिर आपने जल की भिक्षा बतलायी है—उसमें भी कूप, बावली, तालाब पर नहीं जाने के लिए कहा है, जबकि कूप, बावली, सरोवर जाने से ही जल मिलेगा फिर महान-पुरुष ? माँस की भिक्षा तो निषेध है वह ग्रहण नहीं करते। फिर लकड़ी की आज्ञा की—उसमें भी बाग वृक्ष के समीप जाने से मना किया गया है, और सूखी गीली भी न लाना आदि एक ओर आज्ञा है तो दूसरी ओर विरोधाभास—मेरी समझ में कुछ नहीं आया। कृपया आप ब्रह्मनिष्ट, तत्ववेत्ता हैं, इस गूढ़ रहस्य को समझावें और मेरे हृदय की शंका का समधान करें। गुरुदेव मुस्कराये और कहा—'रे जिज्ञासु यही

प्रत्यक्षानुभूति है, उसका जानने का सरल साधन है। एकाग्रचित, सविनय सुनो, इस गुह्य-ज्ञान को विवेचना सूक्ष्म में, सारांश रूप में समझाते हैं—

"पहली भिक्षा अन्न की लाना, ग्राम, नगर, के पास न जाना।
हिन्दू, तुर्क छोड़कर आना, ले आना भी झोली भरके ॥"

अर्थ :—प्रथम भिक्षा 'अन्न' (ज्ञान रूप भोजन) को लाना। प्रमाण—"मैं ब्रह्मज्ञानी का भोजन ज्ञान।" जीव ब्रह्म की एकता अर्थात् अभेद-दर्शन, मैं ब्रह्म हूं—इस अखंडाकार वृत्ति का नाम ज्ञान है। ऐसी वृत्ति को धारण करके आना। परन्तु 'ग्राम' (इन्द्रियों का समूह) और 'नगर' (शरीर-देहाभिमान) इनके पास नहीं जाना। भाव, इसमें अहम् देहाभिमान नहीं करना। यह हिन्दू है, यह मुसलमान है, इस भेद-बुद्धि को छोड़कर आना। "जो जाति, नीति, कुल और गोत्र से परे है, नाम, रूप, गुण और दोष से रहित है तथा देश, काल और वस्ती से भी पृथक् है—तुम वही ब्रह्म हो—ऐसी अपने अन्तः करण में भावना करो।"[1] क्योंकि गुरु जी भी लिखते हैं—"बिसारे दूजा भाउ जीओ" और 'ले आना भी झोली भरके'—अर्थात बुद्धि रूपी झोली जीव-ब्रह्म-एकता रूपी ज्ञान से भरकर लाना।

---

१. जाति नीति कुलगोत्रदूरगं,
नाम रूप गुणदोष वर्जितम्।
देशकाल विषयातिवर्ति यद्,
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥
—विवेक चूड़ामणि—२५५

"दूजी भिक्षा जल की लाना, कूप, बावली पास न जाना।
ताल, तलाई, छोड़के आना, ले आना भी तूंबा भरके ॥"

अर्थात दूसरी भिक्षा ईश्वर के नाम रूपी जल की लाना। "माधव जल की प्यास न जाइ"; 'राम उद्‌क मेरी तिखा बुझानी।' 'पथिक पिआस चित्त सरोवर आतम जल लैन।' ईश्वर का नाम जाप तथा ध्यान की भिक्षा ले आना। परन्तु ईश्वर का ध्यान करते हुए 'कूप' (देवता) बावली (देवियों) का ध्यान न करना—ईश्वर का ही अनन्य मन से ध्यान करना करना तथा 'ताल' (पुत्र) 'तलाई' (स्त्री) आदि का प्रेम छोड़कर केवल ईश्वर की तरफ आना। 'ले आना भी तूंबा भरके' भाव-चित्त रूपी तूंबा ईश्वरीय प्रेम जल से भरकर लाना। सार—"सेना के बीच में रहने वाले राजा के समान, पंचभूतों के इस शरीर के मध्य में इस स्वयं प्रकाश रूप विशुद्ध परम-तत्व को जानकर सदा तन्मय भाव से स्व स्वरूप में स्थित रहते हुए सम्पूर्ण दृश्यवर्ग को ब्रह्म में लीन करो।"*

"तीजी भिक्षा मांस की लाना, जीव-जन्तु के पास न जाना।
जिन्दा मुरदा छोड़कर आना, ले आना भी हांडा भरके ॥"

---

* स्वं बोधमात्रं परिशुद्ध तत्वं,
विज्ञाय सङ्घे नृपवच्च सैन्ये।
तदात्मनैवात्मनि सर्वदा स्थितो,
विलापय ब्रह्मणि दृश्यजातम् ॥
—विवेक चूड़ामणि-२६६

अर्थ :—तीसरी भिक्षा 'माँस की' मनोनाश-भाव समदृष्टि की ले आना और भेद बुद्धि पूर्वक 'जीव' 'ब्रह्म' 'जन्तु' चींटी— पर्यन्त के पास न जाना, इनमें भेद बुद्धि नही करनी तथा 'जिन्दा'—यह ब्रह्म ज्ञानी है—'मुरदा' यह अज्ञानी है। यह भेद बुद्धि छोड़कर आना और समदृष्टि का मन रूपी हांडा भर के ले आना।

"हरमिलापी मिशन का केवल यही प्रचार है।
सबमें अपनी आत्मा है, हर से करना प्यार है।"

तीन अवस्था तीन गुण, तीन लोक विस्तार।
उनका दृष्टा एक तूं, तीनों से ही पार॥

"चौथी भिक्षा लकड़ी की लाना, बाग वृक्ष के पास न जाना।
सूखी, गीली छोड़कर आना, ले आना भी गट्ठा भरके।

अर्थः—चौथी भिक्षा नैष्कर्म (आसक्ति हीन) रूपी लकड़ी ले आना। बाग-वृक्ष—काम्य तथा निषिद्ध कर्म के पास नहीं जाना और 'सूखी'—इस लोक की वासना, 'गीली'—ब्रह्म लोक आदि की वासना छोड़कर आना तथा "नैष्कर्म-भावना" का 'गट्ठा' भरकर ले आना। त्याग और आत्म-समर्पण की पूर्ण-भावना का समावेश होना चाहिए। कर्म-भावना—किन्तु फल-प्राप्ति की कामना से रहित-होना लाजिमी हैं।

यह श्रवण कर शिष्य श्री सत्गुरु कबीर साहिब के चरणों में गिर पड़ा और समर्पण की भावना से बोला कि यह भिक्षा

तो श्री चरणों की सेवा से ही प्राप्त होगी । कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं, आप श्री चरणों की सेवा प्रदान करें । 'सन्त हृदय नवनीत समाना' कबीर साहिब जी ने उसकी जिज्ञासा देख उसको अपने चरणों में रख लिया । वह जिज्ञासु सेवा करते हुऐ अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर, जीवन मुक्ति (प्रत्यक्षानुभूति) का आनंद लेने लगा । निर्णय यह होता है —गुरु दरबार में रहकर सेवा की परीक्षा से उत्तीर्ण होकर ही शिष्य साधन पथ पर चलकर साध्य को प्राप्ति कर लेता है । प्रथम परीक्षा अवश्य होती है ।

'आत्मा परमात्मा विछुरे हुए बहुकाल ।
सत्गुरु मेला कर दिया, बनके आप दयाल ।।

आवश्यकता है कि अभिमान समाप्त किया जावे । अभिमान सेवा के बिना समाप्त नहीं होता । सेवा तभी फलीभूत होती है, जब सेवक सच्चे दिल से उपासना करते हुए आत्म समर्पण करदे, जब तक अपने आप को समर्पण करने की भावना पैदा नहीं होती है, तबतक त्याग नहीं सीखा जा सकता है । त्याग जहां होगा, वहाँ अभिमान नहीं ठहर सकता है यदि हृदय में थोड़ा भी अभिमान बचा रह जावे, तो प्रत्यक्षानुभूति जैसा लक्ष्य सुगम नहीं समझना चाहिए । जिस प्रकार यात्री सड़क पर चल रहा हो और सहसा पाँव के नीचे छोटा सा कंकर आ जावे तो एक पग चलना कठिन हो जाता है । इसी प्रकार जिज्ञासु को भी आध्यात्म-मार्ग पर चलते समय, मनमें थोड़ा सा भी अहंकार आ जावे तो वह भी झुककर (भाव-

आत्म समर्पण एवं सेवा द्वारा) ही दूर हो सकता है। कुआँ से जल का लोटा झुकने के पश्चात ही भरकर आता है। इसलिए इस मार्ग पर अभिमान का कोई स्थान नहीं है। श्री कबीर साहिब का कथन है—

दोहा—पिया चाहे प्रेम रस, राखा चाहे मान।
एक मयाँ में दो खड़ग, देखा सुना न कान।।

निर्णय हो गया कि गुरु-चरणों में रहकर सेवा करने से अभिमान समाप्त हो जाता है। यहाँ हमारा भाव सूक्ष्म अहं से है, जो किसी भी तरीके वन्धन में बांधे रखता है। गुरु चरणों में, हृदय-गुहा में, जिज्ञासु को स्वयं बोध होने लगता है। सेवा एवं लग्न इस मार्ग की परमौषधि हैं जो स्थूल एवं सूक्ष्म अभिमान को समाप्त करते हुए, जिज्ञासु को "शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, मुक्तोऽसि, निरंजनोऽसि, आदि क्रमवद्ध लक्ष्य का बोध कराती हैं। यहीं से परम लक्ष्य—प्रत्यक्षानुभूति (अथातो ब्रह्म जिज्ञासाः) का श्रीगणेश होता है। तब तक गुरुचरणों की हृदय से कर्मोपासना करनी चाहिए।

'गुरु की मूर्ति मन में ध्यान,
गुरु का शब्द मन्त्र मन मान।
गुरु के चरण हृदय लै धारो,
गुरु पार ब्रह्म सदा नमस्कारो।"

साहसी जिज्ञासु इसे मोक्ष-मंत्र जानकर निष्ठावान बने। बस निष्ठावान होने की देरी है प्रभु तो हमसे मिलने के लिए हर क्षण तैयार बैठे हैं।

जब चाह हुसन की होती है,
सब नाज़ उठाना पड़ता है।

जो दर्द कजा का बायस है,
वह दर्द छुपाना पड़ता है।

हमने भी चाह की थी कभी,
लेकिन नतीजा यह निकला।

वह सितम करें और रूठें भी,
फिर उन्हें मनाना पड़ता है।

मिल जायेगी मंजिल तुमको,
पर शर्त है उसमें तलख मगर।

हर नक्शे कदम में रहबर के,
सर अपना झुकाना पड़ता है।

गीत

प्रेम निराला राग सखो री, प्रेम निराला राग ये।

प्रेमी प्रेम के राग सुनाये,
अपने तनु की सुधी बिसराये,
नैनों से जलधारा आये,
बुझे विरह की आग सखी री-प्रेम निराला राग ये।

प्रेम का प्यासा प्रियतम चाहे,
बिनु प्रियतम के कछु न भाये,
सच्चा प्रेमी शीश गँवाये,
झूठे प्रेम से भाग सखी री, प्रेम निराला राग ये।

प्रेम नगर को प्रेमी जाये,
पग पग पर वो ठोकर खाये,
डग मग डोले पहुँच ही जाये,
लगे न कोई दाग सखी री, प्रेम निराला राग ये।

प्रेम नगर का पंथ निराला,
चतुर न पहुँचे कर कर चाला,
पहुँचे कोई भोला भाला,
मान, बड़ाई त्याग सखो री, प्रेम निराला राग ये।
प्रेम निराला राग सखी री, प्रेम निराला राग ये॥

आरती श्री सत्गुरु प्यारे जी की

आरती सत्गुरु प्यारे की कि जग के तारण हारे की।
गगन से फूल बहुत बरसे, देवता दर्शन को तरसे।
केसर का तिलक, चांद सी झलक, छवि है
मेरे सत्गुरु प्यारे की कि जग के तारणहारे की। आरती……

प्रीत मेरे मन में बसे ऐसो, कि मिश्री बीच मिठत्त जैसी।
दया जब होय पाप सब धोय लाज रखो दास विचारे की।
कि जग के तारणहारे की। आरती………

प्रभु जी तुम ईश्वर के ईशा, अनाथों के हो जगदीशा।
हम भुल्लन हार, तुम बख्शन हार, खड़े हैं तेरे द्वारे जी।
कि जग के तारणहारे की। आरती………

चद्दर पई कान्धे पर सोहे, छवि पई मन मेरा मोहे।
खूण्डी है हाथ, तू मेरे नाथ, जावाँ चरणां तो वारे जी॥
कि जग के तारणहारे की। आरती………

हो भक्तों के तुम हितकारी, कि वर्षा हो रही सी भारी।
सिंहासन छोड़, आ पहुँचे तोड़, भीग गये वस्त्र सारे जी।
कि जग के तारणहारे की। आरती………

—o—

गुरु-आरती

जय गुरुदेव दयानिधि, दीनन हितकारी,
स्वामी दीनन हितकारी।
जय जय मोह-विनाशक, भव-बन्धन हारी,
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥

ब्रह्मा, विष्णु, सदाशिव गुरु मूर्ति धारी,
स्वामी गुरु मूर्ति धारी।
वेद, पुराण बखानत, गुरु महिमा धारी,
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥

जप, तप, तीर्थ, संयम, दान विविध दीन्हें,
स्वामी दान विविध दीन्हें।
गुरु बिन ज्ञान न होवे, कोटि जतन कीन्हें,
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥

माया, मोह, नदी जल जीव बहे सारे,
स्वामी जीव बहे सारे।
नाम-जहाज बिठाकर, गुरु पल में तारे,
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥

काम, क्रोध, मद-मत्सर, चोर बड़े भारे,
स्वामी चोर बड़े भारे।

ज्ञान-खड्ग दे कर में, गुरु सब संहारे,
ॐ जय जय जय गुरुदेव

नाम पंथ जागत में, निज निज गुण गावें,
स्वामी निज निज गुण गा
सबका सार बताकर, गुरु मारग लावें,
ॐ जय जय जय गुरुदेव

गुरु चरणामृत निर्मल, सब पातक हारी,
स्वामी सब पातक हारी
बचन सुनत तम नाशे, सब संशय टारी,
ॐ जय जय जय गुरुदेव ।

तन, मन, धन, सब अर्पण, गुरुचरणन कीजै,
स्वामी गुरु चरणन कीजै
ब्रह्मानन्द परम् पद, मोक्ष गति लीजै,
ॐ जय जय जय गुरुदेव ॥

—०—

अरदास

अवगुण हार की विनती, सुनो गरीब निवाज़ ।
जे मैं पूत कपूत हूँ, स्वामी बहुड़ पिता को लाज ।।

नहीं विद्या, नहीं बाहुवल, नहीं खरचन को दाम ।
तुलसी ऐसे पतित की, तुम पत राखो श्रीराम ।।

अवसर राखी द्रोपदी, संकट ज्यों प्रहलाद ।
कहन सुनन को कुछ नही, प्रभु शरण पड़े की लाज ।।

गुरु जी को सिर पर राखिये, चलिये आज्ञा मांहि ।
कह कवीर तिहिं दास को, तीन लोक डर नांहि ।।

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, किसके लाँगू पाँय ।
बलिहारी गुरु आपणे, जिन गोविन्द दियो बताय ।।

गुरु समरथ सिर पर खड़े, कहे कबीर तिहिं दास ।
ऋद्धि सिद्धि सेवा करें, मुक्ति न छोड़े पांस ।।

जे मैं भूल बिगाड़ियां, न कर मैला चित्त ।
साहिब गौरा लोड़िये, नफ़र बिगाड़े नित ।।

आशावन्ती मैं दर खड़ी, कन्न न दोई दे ।
एह दरबार नां छोड़सां, मेरा सत्गुरु मेहर करे ।।

किया मुख तें बेनती करूँ, लाज आवत है मोहि ।
तुम देखत अवगुण करूँ, प्रभु कैसे भावूं तोहि ।।

गुरु जी को कीजिये दण्डवत्, कोटि कोटि प्रणाम।
कीट न जाने भृंग को, गुरु करले आप समान॥
लेखा गिनत न छूटिये, प्रभु क्षण क्षण भूलन हार।
बख़शन हारा बख़श ले कर कृपा पार उतार॥
श्री मात-पिता सतगुरु मेरे, मैं शरण पड़ूं किसको।
गुरु बिन अवर न दूसरा, मैं आस करूँ जिसकी॥